

1993



प. पू. श्री १०८ आचार्य शांतिसागर दि. जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्थाद्वारा प्रमाणित
श्री श्रुतभांडार व ग्रंथप्रकाशन समिति, कलकत्ता.

श्री भगवान पुष्पदंत-भूतबलीप्रणीत



षट्खंडागम



इ. स. १९६५



—: संपादन :-

ब्र. पं. सुमतिबाई शहा, न्यायतीर्थ
संचालिका,

क्षु. राजुलमती दि. जैन श्राविकाश्रम, शोलापुर.

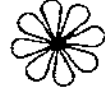
❁ प. पू. श्री १०८ आचार्य शांतिसागर दि. जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्थाद्वारा प्रमाणित
श्री श्रुतभांडार व ग्रंथप्रकाशन समिति, फलटण.

1993

श्री भगवान पुष्पदंत-भूतबलीप्रणीत



षट्खंडागम



—: संपादन :—

ब्र. पं. सुमतिबाई शहा, न्यायतीर्थ

संचालिका,

शु. राजकुमती दि. जैन श्रानिकाश्रम, शोलापुर.

प्रस्तावना

भ० महावीरके निर्वाणके पश्चात् गौतम, सुधर्मा और जम्बूस्वामी ये तीनों पहले समस्त श्रुतके धारक और पीछे केवलज्ञानके धारक केवली हुए। इनका काल ६२ वर्ष है। पश्चात् १०० वर्षमे १ विष्णु, २ नन्दि मित्र, ३ अपराजित, ४ गोवर्धन और ५ भद्रबाहु ये पांच आचार्य पूर्ण द्वादशाङ्गके वेत्ता श्रुतकेवली हुए। तदनन्तर ग्यारह अङ्ग और दश पूर्वके वेत्ता ये ग्यारह आचार्य हुए — १ विशाखाचार्य, २ प्रोष्ठिल, ३ क्षत्रिय, ४ जय, ५ नाग, ६ सिद्धार्थ, ७ धृतिसेन, ८ विजय, ९ बुद्धिल, १० गंगदेव और ११ धर्मसेन। इनका काल १८३ वर्ष है। तत्पश्चात् १ नक्षत्र, २ जयपाल, ३ पाण्डु, ४ ध्रुवसेन और ५ कंस ये पांच आचार्य ग्यारह अङ्गके धारक हुए। इनका काल २२० वर्ष है। तदनन्तर १ सुभद्र, २ यशोभद्र, ३ यशोबाहु और ४ लोहार्य ये चार आचार्य एकमात्र आचाराङ्गके धारक हुए। इनका समय ११८ वर्ष है। इसके पश्चात् अङ्ग और पूर्ववेत्ताओंकी परम्परा समाप्त हो गई और सभी अङ्गों और पूर्वोंको एकदेशका ज्ञान आचार्य परम्परासे धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ। ये दूसरे अग्रायणी पूर्वके अन्तर्गत चौथे महाकर्म-प्रकृतिप्राभृत विशिष्ट ज्ञात थे।

श्रुतावतारकी यह परम्परा धवला टीकाके रचयिता स्वामी आ० वीरसेन और इन्द्रनन्दिके अनुसार है। नन्दि संघकी जो प्राकृत पट्टावली उपलब्ध है, उसके अनुसार भी श्रुतावतारका यही क्रम है। केवल आचार्यों के कुछ नामोंमें अन्तर है। फिरभी मोटे तौर पर उपर्युक्त कालगणनाके अनुसार भ० महावीर के निर्वाण से ६२ + १०० + १८३ + २२० + ११८ = ६८३ वर्षोंके व्यतीत होने पर आचार्य धरसेन हुए, ऐसा स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है। नन्दि संघकी पट्टावलीके अनुसार धरसेनाचार्यका काल वी. नि. से ६१४ वर्ष पश्चात् पडता है। बृहद्विष्णुणिका— जो कि एक श्वेताम्बर विद्वान्की लिखी हुई है ओर जो बहुत प्रामाणिक मानी जाती है— धरसेनका काल वी.नि. से ६०० वर्ष बाद पडता है।

आ. धरसेन काठियावाडमें स्थित गिरिनगर (गिरनार पर्वत) की चान्द्र गुफामें रहते थे। जब वे बहुत वृद्ध हो गये और अपना जीवन अत्यल्प अवशिष्ट देखा, तब उन्हें यह चिन्ता हुई कि अवसर्पिणी कालके प्रभावसे श्रुतज्ञानका दिन पर दिन हास होता जाता है। इस समय मुझे जो कुछ श्रुत प्राप्त है, उतना भी आज किसीको नहीं है, यदि मैं अपना श्रुत दूसरेको नहीं संभलवा सका, तो यह भी मेरे ही साथ समाप्त हो जायगा। इस प्रकारकी चिन्तासे और श्रुत-रक्षणके

१ 'योनिप्राभृतं वीरात् ६०० धरसेनम्'। (बृहद्विष्णुणिका जं. सा. सं. १, २ परिशिष्ट) अर्थात् आ. धरसेनने वी. नि. के ६०० वर्ष बाद योनिप्राभृतकी रचना की। योनिप्राभृतका उल्लेख धवला-कारने भी किया है।

वात्सल्यसे प्रेरित होकर उन्होंने उस समय दक्षिणापथमें हो रहे साधु सम्मेलनके पास एक पत्र भेजकर अपना अभिप्राय व्यक्त किया ! सम्मेलनमें सभागत प्रधान आचार्योंने आचार्य धरसेनके पत्र को बहुत गम्भीरतासे पढ़ा और श्रुतके ग्रहण और धारणमें समर्थ, नाना प्रकारकी उज्ज्वल, निर्मल त्रिनयसे विभूषित, शीलरूप-मालाके धारक, देश, कुल और जातिसे शुद्ध, सकल कलाओंमें पारंगत ऐसे दो योग्य साधुओंको धरसेनाचार्यके पास भेजा ।

जिस दिन वे दोनों साधु गिरिनगर पहुंचनेवाले थे, उसकी पूर्व रात्रिमें आ. धरसेनने स्वप्नमें देखा कि धवल एवं विनम्र दो बैल आकर उनके चरणोंमें प्रणाम कर रहे हैं । स्वप्न देखनेके साथ ही आचार्यश्रीकी निद्रा भंग हो गई और वे 'श्रुतदेवता जयवन्ती रहे' ऐसा कहते हुए उठ कर बैठ गये । उसी दिन दक्षिणापथसे भेजे गये वे दोनों साधु आ. धरसेनके पास पहुंचे और अति हर्षित हो उनकी चरण-वन्दनादिक कृतिकर्म करके और दो दिन विश्राम करके तीसरे दिन उन्होंने आचार्यश्रीसे अपने आनेका प्रयोजन कहा । आचार्य भी उनके वचन सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और 'तुम्हारा कल्याण हो' ऐसा आशीर्वाद दिया ।

आचार्यश्रीके मनमें विचार आया कि पहिले इन दोनों नवागत साधुओंकी परीक्षा करनी चाहिए कि ये श्रुत ग्रहण और धारण आदिके योग्य भी हैं अथवा नहीं ? क्योंकि स्वच्छन्द-विहारी व्यक्तियोंको विद्या पढ़ाना संसार और भयकाही बढ़ानेवाला होता है । ऐसा विचार करके उन्होंने इन नवागत दोनों साधुओंकी परीक्षा लेनेका विचार किया । तदनुसार धरसेनाचार्यने उन दोनों साधुओंको दो मन्त्रविद्याएं साधन करनेके लिये दी । उनमेंसे एक मन्त्रविद्या हीन अक्षरवाली थी और दूसरी अधिक अक्षरवाली । दोनोंको एक एक मन्त्र विद्या देकर कहा कि इन्हें तुम लोग षष्ठोपवास (दो दिनके उपवास) से सिद्ध करो । दोनों साधु गुरुसे मन्त्र-विद्या लेकर म. नेमिनाथ के निर्वाण होनेकी शिलापर बैठकर* मन्त्रकी साधना करने लगे । मन्त्र साधना करते हुए जब उनको वे विद्याएं सिद्ध हुईं, तो उन्होंने विद्याकी अधिष्ठात्री देवताओंको देखा कि एक देवीके दांत बाहिर निकले हुए हैं और दूसरी कानी है । देवियोंके ऐसे विकृत अंगोंको देखकर उन दोनों साधुओंने विचार किया कि देवताओंके तो विकृत अंग होते नहीं हैं, अतः अवश्यही मन्त्रमें कहीं कुछ अशुद्धि है ! इस प्रकार उन दोनोंने विचार कर मन्त्र-सम्बन्धी व्याकरण शास्त्रमें कुशल उन्होंने अपने अपने मन्त्रोंको शुद्ध किया और जिसके मन्त्र में अधिक अक्षर था, उसे निकाल कर, तथा जिसके मन्त्रमें अक्षर कम था, उसे मिलाकर उन्होंने पुनः अपने-अपने मन्त्रोंको सिद्ध करना प्रारम्भ किया । तब दोनों विद्या-देवताएं अपने स्वाभाविक सुन्दर रूपमें प्रकट हुईं और बोलीं— 'स्वामिन् आज्ञा दीजिए, हम क्या करें । तब उन दोनों साधुओंने कहा, आप लोगोंसे हमें कोई ऐहिक या पारलौकिक प्रयोजन नहीं है । हमने तो गुरुकी आज्ञासे यह मन्त्र-साधना की है । यह सुनकर

* 'श्रीमन्तेमिजिनेश्वरसिद्धिसिलायां विधानतो विद्यासंसाधनं विदधतोस्तमोश्च पुरतः स्थिते देव्या ॥ ११६ ॥ (इन्द्रनन्दि श्रुतावतार)

वे देवियां अपने स्थानको चली गईं । मन्त्र-साधनाकी सफलतासे प्रसन्न होकर वे आ. धरसेनके पास पहुंचे और उनके पाद-वन्दना करके विद्या-सिद्धि-सम्बन्धी समस्त वृत्तांत निवेदन किया । आ. धरसेन अपने अभिप्रायकी सिद्धि और समागत साधुओंकी योग्यताको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और ' बहुत अच्छा ' कह कर उन्होंने शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र और शुभ वारमें ग्रन्थका पढ़ाना प्रारम्भ किया । इस प्रकार क्रमसे व्याख्यान करते हुए आ. धरसेनने आषाढ शुक्ला एकादशीके पूर्वाह्न कालमें ग्रन्थ समाप्त किया । विनय-पूर्वक इन दोनों साधुओंने गुरुसे ग्रन्थका अध्ययन सम्पन्न किया है, यह जानकर भूतजातिके व्यन्तर देवोंने उन दोनोंमेंसे एककी पुष्पावलीसे शंख, तुर्य आदि वादित्तोंको बजाते हुए पूजा की । उसे देखकर धरसेनाचार्यने उसका नाम ' भूतबलि ' रखा । तथा दूसरे साधुकी अस्त-व्यस्त स्थित दन्त-पंक्तियों उखाड़ कर समीकृत करके उनकी भी भूतोंने बड़े समारोहसे पूजा की । यह देखकर धरसेनाचार्यने उनका नाम ' पुष्पदन्त ' रखा ।

अपनी मृत्युको अति सन्निकट जानकर, इन्हें मेरे वियोगसे संकेश न हो यह सोचकर और वर्षाकाल समीप देखकर धरसेनाचार्यने उन्हें उसी दिन अपने स्थानको वापिस जानेका आदेश दिया । यद्यपि वे दोनोंही साधु गुरुके चरणोंके सानिध्यमें कुछ अधिक समयतक रहना चाहते थे, तथापि ' गुरुके वचनोंका उल्लंघन नहीं करना चाहिए ' ऐसा विचार कर वे उसी दिन वहांसे चल दिये और अंकलेश्वर (गुजरात) में आकर उन्होंने वर्षाकाल बिताया । वर्षाकाल व्यतीतकर पुष्पदन्त आचार्य तो अपने भानजे जिनपालित के साथ वनवास देशको चले गये और भूतबलि महारक भी द्रमिल देशको चले गये ।

तदनन्तर पुष्पदन्त आचार्यने जिनपालितको दीक्षा देकर, गुणस्थानादि बीस-प्ररूपणा-गर्भित सत्प्ररूपणाके सूत्रोंकी रचना की और जिनपालितको पढ़ाकर उन्हें भूतबलि आचार्यके पास भेजा । उन्होंने जिनपालितके पास बीस-प्ररूपणा-गर्भित सत्प्ररूपणाके सूत्र देखे और उन्हींसे यह जानकर कि पुष्पदन्त आचार्य अल्पायु हैं, अतएव महाकर्मप्रकृतिप्राप्तका विच्छेद न हो जाय, यह विचार कर भूतबलिने द्रव्यप्रमाणानुगमको आदि लेकर आगेके ग्रन्थकी रचना की । जब ग्रन्थ-रचना पुस्तकारूढ हो चुकी तब ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीके दिन भूतबलि आचार्यने चतुर्विध संघके साथ बड़े समारोहसे उस ग्रन्थकी पूजा की । तभीसे यह तिथि श्रुतपंचमीके नामसे प्रसिद्ध हुई । और इस दिन आज तक जैन लोग बराबर श्रुत-पूजन करते हुए चले आ रहे हैं^१ । इसके पश्चात् भूतबलिने अपने द्वारा रचे हुए इस पुस्तकारूढ षट्खण्डरूप आगमको जिनपालितके हाथ आचार्य पुष्पदन्तके पास भेजा । वे इस षट्खण्डागमको देखकर और अपनेद्वारा प्रारम्भ किये कार्यको भलीभांति सम्पन्न हुआ जानकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने भी इस सिद्धान्त ग्रन्थकी चतुर्विध संघके साथ पूजा की ।

१ ज्येष्ठसितपक्षपञ्चम्यां चातुर्वर्ष्यसंघसमवेतः । तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम् ॥ १४३ ॥
श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरयं परामाप । अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजां कुर्वन्ते जैनाः ॥ १४४ ॥

(इन्द्रनन्दि श्रुतावतार)

षट्खण्डागमका उद्गम

द्वादशाङ्गश्रुतके बारहवें दृष्टिवाद अंगके जो पांच भेद बतलाये गये हैं, उनमेंसे चौथे भेद पूर्वगत के चौदह भेदोंमेंसे दूसरे अग्रायणीय पूर्वकी १४ वस्तुओंमेंसे पांचवीं चयनलब्धिके २० प्राभृतोंमेंसे चौथे कर्मप्रकृतिप्राभृतके २४ अनुयोगद्वारोंमेंसे किस प्रकार किस अनुयोगद्वारमेंसे प्रस्तुत ग्रन्थका कौनसा खण्ड निकला है, इसके लिए निम्नलिखित संदृष्टि देखिए—

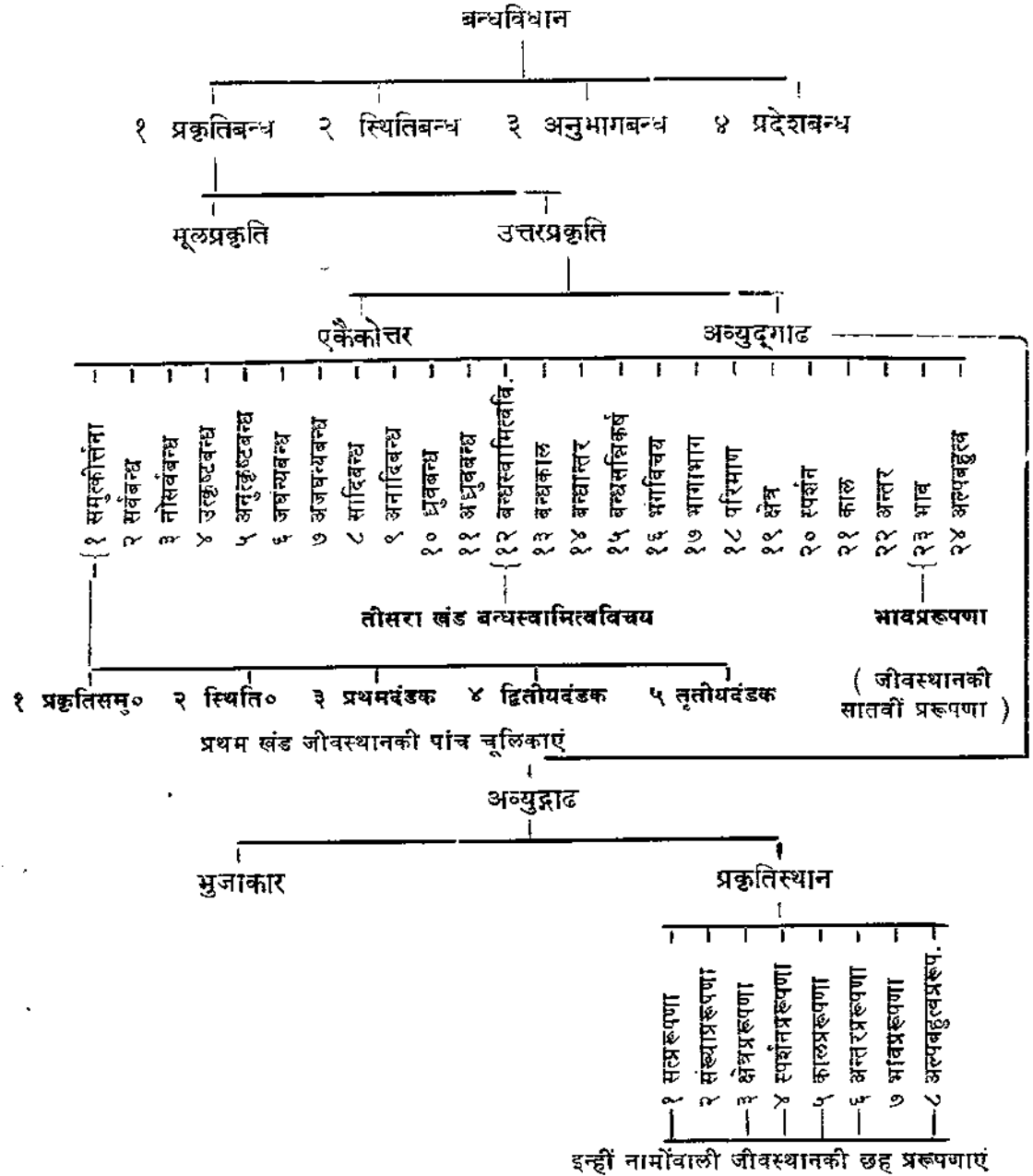
द्वितीय अग्रायणी पूर्व

१४ वस्तु -		२० प्राभृत -		२४ अनुयोगद्वार	
१ पूर्वात्ता	१ पहला प्राभृत	१ कृति	१ वेदना	१ कृति	१ वेदनाखंड
२ अपरात्ता	२ दूसरा प्राभृत	२ दूसरा प्राभृत	२ स्पर्श	२ वेदना	२ वेदनाखंड
३ ध्रुव	३ तीसरा प्राभृत	३ तीसरा प्राभृत	४ कर्म	४ कर्म	४ कर्मखंड
४ अधुव	४ चौथा कर्मप्रकृति	४ चौथा कर्मप्रकृति	५ प्रकृति	५ प्रकृति	५ प्रकृतिखंड
५ चयनलब्धि	५ पांचवा प्राभृत	५ पांचवा प्राभृत	६ बन्धन	६ बन्धन	६ बन्धनखंड
६ अद्योपम	६ छठा प्राभृत	६ छठा प्राभृत	७ निबन्धन	७ निबन्धन	७ निबन्धनखंड
७ प्रणिधिकल्प	७ सातवा प्राभृत	७ सातवा प्राभृत	८ प्रक्रम	८ प्रक्रम	८ प्रक्रमखंड
८ अर्थ	८ आठवा प्राभृत	८ आठवा प्राभृत	९ उपक्रम	९ उपक्रम	९ उपक्रमखंड
९ भौम	९ नववा प्राभृत	९ नववा प्राभृत	१० उदय	१० उदय	१० उदयखंड
१० इतादिक	१० दशवा प्राभृत	१० दशवा प्राभृत	११ मोक्ष	११ मोक्ष	११ मोक्षखंड
११ सर्वार्थ	११ ग्यारहवा प्राभृत	११ ग्यारहवा प्राभृत	१२ सत्क्रम	१२ सत्क्रम	१२ सत्क्रमखंड
१२ कल्पनिर्घण	१२ बारहवा प्राभृत	१२ बारहवा प्राभृत	१३ लेख्या	१३ लेख्या	१३ लेख्याखंड
१३ अतीतसिद्धबद्ध	१३ तेरहवा प्राभृत	१३ तेरहवा प्राभृत	१४ लेख्याकर्म	१४ लेख्याकर्म	१४ लेख्याकर्मखंड
१४ अनागतसिद्ध	१४ चौदहवा प्राभृत	१४ चौदहवा प्राभृत	१५ लेख्यापरिणाम	१५ लेख्यापरिणाम	१५ लेख्यापरिणामखंड
	१५ पंद्रहवा प्राभृत	१५ पंद्रहवा प्राभृत	१६ सातासात	१६ सातासात	१६ सातासातखंड
	१६ सोलहवा प्राभृत	१६ सोलहवा प्राभृत	१७ दीर्घ ह्रस्व	१७ दीर्घ ह्रस्व	१७ दीर्घ ह्रस्वखंड
	१७ सत्रहवा प्राभृत	१७ सत्रहवा प्राभृत	१८ भवधारणीय	१८ भवधारणीय	१८ भवधारणीयखंड
	१८ अठारहवा "	१८ अठारहवा "	१९ पुद्गलात्म	१९ पुद्गलात्म	१९ पुद्गलात्मखंड
	१९ उन्नीसवा "	१९ उन्नीसवा "	२० निधत्तानिधत्त	२० निधत्तानिधत्त	२० निधत्तानिधत्तखंड
	२० बीसवा "	२० बीसवा "	२१ निकाचितानिकाचित	२१ निकाचितानिकाचित	२१ निकाचितानिकाचितखंड
			२२ कर्मस्थिति	२२ कर्मस्थिति	२२ कर्मस्थितिखंड
			२३ पश्चिमस्कन्ध	२३ पश्चिमस्कन्ध	२३ पश्चिमस्कन्धखंड
			२४ अल्पबहुत्व	२४ अल्पबहुत्व	२४ अल्पबहुत्वखंड

ऊपरकी संदृष्टिसैं स्पष्ट है कि चौथे कर्मप्रकृतिप्राभृतके जो २४ अनुयोगद्वार हैं, उनमेंसे पहले और दूसरे अनुयोगद्वारसे प्रस्तुत षट्खण्डागमका चौथा वेदना खंड निकला है। बन्धननाम छठे अनुयोगद्वारके चार भेदोंमेंसे प्रथम भेद बन्धसे तथा तीसरे, चौथे और पांचवें अनुयोगद्वारसे पांचवां वर्गणाखंड निकला है। बन्धन अनुयोगद्वारके तीसरे बन्धकभेदसे दूसरा खंड खुदाबन्ध

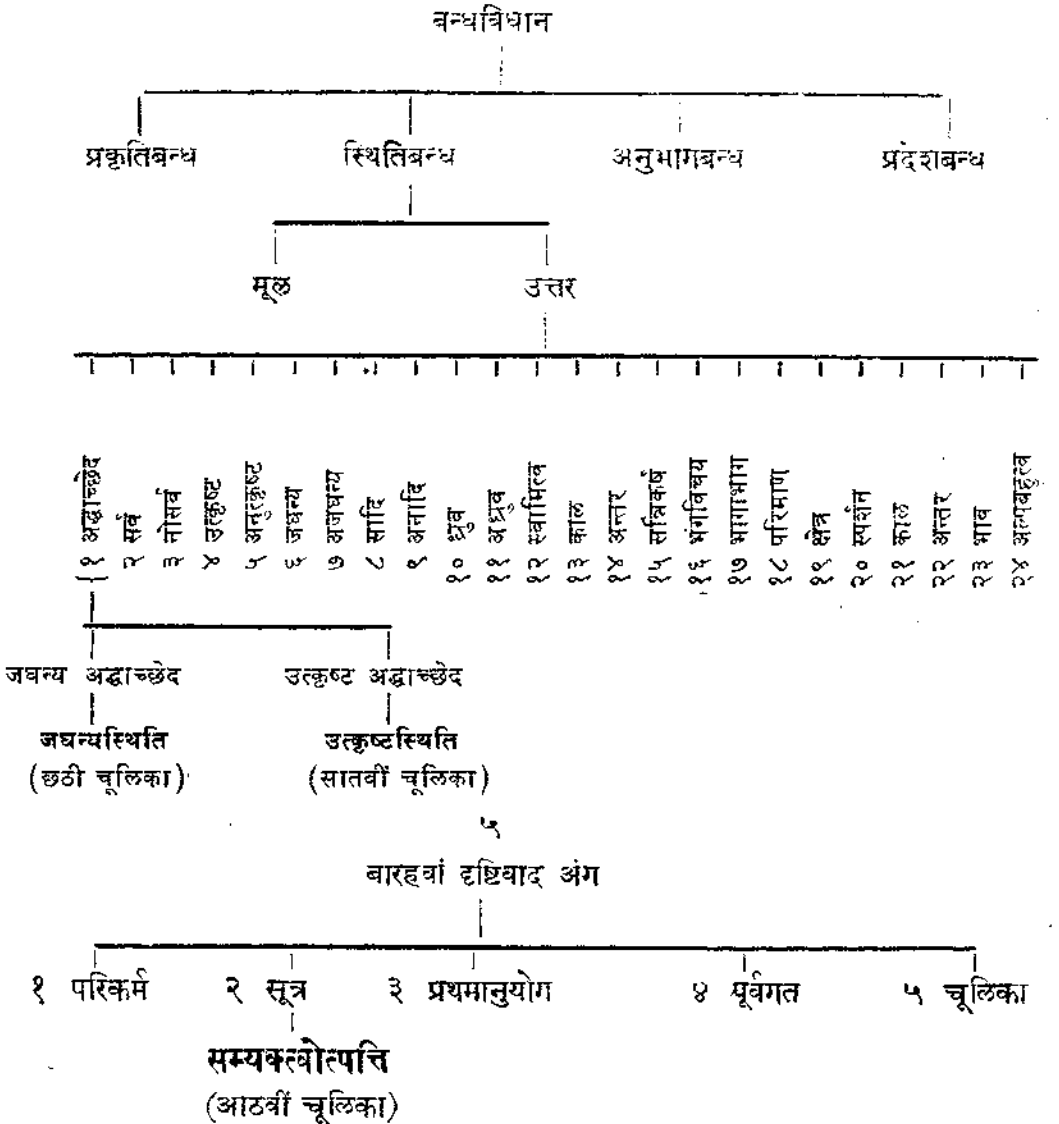
निकला है, और इसी अनुयोगद्वारके बन्धविधाननामक चौथे भेदसे महाबन्ध नामका छठा खण्ड निकला है।

बन्धन नामक छठे अनुयोगद्वारके बन्धविधान नामक चौथे भेदसे बन्धस्वामित्वविचय नामका तीसरा खंड और जीवस्थान नामक प्रथम खण्डके अनेक अनुयोगद्वार निकले हैं। यथा—



इस प्रकारसे सिद्ध है कि बन्ध विधानके उत्तरप्रकृतिगत अव्युद्गाट भेदके प्रकृतिस्थान-सम्बन्धी आठ प्ररूपणाओंमेंसे जीवस्थान नामक प्रथम खण्डकी पहली सत्प्ररूपणा, तीसरी क्षेत्रप्ररूपणा, चौथी स्पर्शनप्ररूपणा, पांचवीं कालप्ररूपणा, छठी अन्तरप्ररूपणा और आठवीं अल्पबहुत्व-प्ररूपणा निकली है। सातवीं भावप्ररूपणाका उद्गम एकैकोत्तर प्रकृतिस्थानके तेईसवें भाव-अनुयोग-द्वारसे हुआ है। दूसरी संख्याप्ररूपणाका उद्गम स्थान बन्धक ११ अनुयोगद्वारोंमेंसे पांचवां द्रव्यप्रमाणानुगम अनुयोगद्वार है।

जीवस्थानकी शेष जो चार चूलिकाएं हैं उनका उद्गम इस प्रकार हुआ है—



पांचवां व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग

गति-आगति

(नववी चूलिका)

इस प्रकार जीवस्थान नामक प्रथम खण्डमें जो नौ चूलिकाएं दी हुई हैं, उनके उद्गम स्थान उपर्युक्त प्रकारसे जानना चाहिए ।

उक्त सर्व विवेचनसे पाठक दो निश्चयोंपर पहुंचेंगे— पहला यह कि द्वादशांग श्रुतका क्षेत्र कितना विशाल है । और दूसरा यह कि षट्खण्डागमका उस द्वादशांग श्रुतसे उद्गम होनेके कारण भ. महावीरकी वाणीसे उसका सीधा सम्बन्ध है । इससे प्रस्तुत सिद्धान्त ग्रन्थकी महत्ता स्वयं सिद्ध है ।

षट्खण्डागमका विषय-परिचय

यह बात तो ऊपर किये गये विवेचनसेही स्पष्ट है कि प्रस्तुत ग्रन्थका उद्गम किसी एक अनुयोगद्वारासे नहीं है; किन्तु महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे भिन्न भिन्न अनुयोगद्वार एवं उनके अवान्तर अधिकारोंसे षट्खण्डागमके विभिन्न अंगोंकी उत्पत्ति हुई है, अतः इसका नाम खण्ड-आगम पड़ा । और यतः इस आगमके छह खण्ड हैं, अतः षट्खण्डागमके नामसे यह प्रसिद्ध हुआ । इसके छह खण्ड इस प्रकार हैं— १ जीवस्थान, २ खुदाबन्ध (क्षुद्रबन्ध), ३ बन्धस्वामित्वविचय, ४ वेदना, ५ वर्गणा और महाबन्ध ।

१ जीवस्थान— इस खण्डमें गुणस्थान और मार्गणास्थानोंका आश्रय लेकर सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगद्वारोंसे, तथा प्रकृतिसमुत्कीर्तना, स्थानसमुत्कीर्तना, तीन महादण्डक, जघन्यस्थिति, उत्कृष्टस्थिति, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति-आगति इन नौ चूलिकाओंके द्वारा जीवकी विविध अवस्थाओंका वर्णन किया गया है ।

राग, द्वेष और मिथ्यात्व भावको मोह कहते हैं । मन, वचन, कायके निमित्तसे आत्म-प्रदेशोंके चंचल होनेको योग कहते हैं । इन्हीं मोह और योगके निमित्तसे दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप आत्मगुणोंकी क्रम-विकासरूप अवस्थाओंको गुणस्थान कहते हैं । वे गुणस्थान १४ हैं— १ मिथ्यात्व, २ सासादन, ३ मिश्र, ४ अद्विरतसम्यग्दृष्टि, ५ देशसंयत, ६ प्रमत्तसंयत, ७ अप्रमत्तसंयत, ८ अपूर्वकरणसंयत, ९ अनिवृत्तिकरणसंयत, १० सूक्ष्मसांपरायसंयत, ११ उपशान्तमोह छद्मस्थ, १२ क्षीणमोह छद्मस्थ, १३ सयोगिकेवली और १४ अयोगिकेवली ।

१ मिथ्यात्वगुणस्थान— यद्यपि जीवका स्वरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप या दूसरों शब्दोंमें सत्-चित्-आनन्दरूप है । तथापि यह आत्मा अपने इस स्वरूपको मोहकर्मके

प्रबल उदयके कारण अनादिकालसे भूला हुआ परिभ्रमण करता आ रहा है। मोहकर्मकी प्रबलतासे यह अपने स्वरूपको प्राप्त करनेका तो प्रयत्न नहीं करता, किन्तु संसारके पर पदार्थ जो अपने नहीं हैं, उनको प्राप्त करनेके लिए आकुल-व्याकुल रहता है। जीवका यही मिथ्या भाव या अन्यथा परिणमन मिथ्यात्व कहलाता है। यह मिथ्यात्व जिन जीवोंके पाया जाता है, उन्हें मिथ्या-दृष्टि कहते हैं। मिथ्यादृष्टि जीवोंकी प्रवृत्ति सदा विषय कषायों में रहती है और उन्हें धर्म-अधर्मकी कुछ भी पहिचान नहीं होती है। संसारके बहुभाग प्राणी इसी मिथ्यात्व स्थानमें अवस्थित हैं। इस गुणस्थानका काल तीन प्रकारका है - १ अनादि-अनन्त, २ अनादि-सान्त और ३ सादि-सान्त जिन जीवोंके मिथ्यात्व भाव अनादि कालसे चला आ रहा है और आगे अनन्त काल रहनेवाला है, अर्थात् जिन्हें सच्ची यथार्थ दृष्टि न आज तक प्राप्त हुई है और न आगे कभी प्राप्त होनेवाली है, ऐसे अभव्य मिथ्यादृष्टियोंके मिथ्यात्वगुणस्थानका काल अनादि-अनन्त जानना चाहिए। जिन जीवोंके मिथ्यात्व अनादिकालसे तो चला आया है, किन्तु जो पुरुषार्थ करके उसे दूर कर और यथार्थ दृष्टि प्राप्त कर सम्यग्दृष्टि बन उपरके गुणस्थानोंमें चढ़नेवाले हैं उनका मिथ्यात्व यतः अन्त-सहित है, अतः उसका काल अनादि-सान्त कहलाता है। जिन जीवोंकी मिथ्यादृष्टि दूर होकर एक बार भी सच्ची दृष्टि प्राप्त हो गई है और ऊपर के गुणस्थानोंमें चढ़ चुके हैं। किन्तु कर्मोदयके वशसे पुनः मिथ्यात्वगुणस्थानमें आ गये हैं, उनके मिथ्यात्वका काल सादि-सान्त कहलाता है। अर्थात् उनके मिथ्यात्वकी आदि भी है और आगे चलकर नियमसे वह छूटनेवाला है अतः अन्त भी है। इस प्रकार मिथ्यात्व गुणस्थानमें तीनों प्रकार के जीव पाये जाते हैं।

२ सासादन गुणस्थान- जब यह जीव आत्म-स्वरूपको पानेके लिए पुरुषार्थ करता है और उस पुरुषार्थ के द्वारा उसे सच्ची दृष्टि-प्राप्त हो जाती है तब वह पहले गुणस्थानसे एकदम चौथे गुणस्थानमें जा पहुँचता है। किन्तु उपशान्त हुई अनन्तानुबन्धी कषायके उदयमें आ जानेसे वह नीचे गिरता है और इस गिरती हुई दशामें ही जीवसे दूसरा गुणस्थान होता है। आसादन नाम सम्यग्दर्शनकी विराचनाका है, उससे सहित होनेके कारण इस गुणस्थानका नाम सासादन पड़ा है। इस गुणस्थान का काल कमसे कम एक समय है और अधिक से अधिक छह आवली काल है। इससे अधिक समय तक कोई भी जीव इस गुणस्थानमें नहीं रह सकता है। इसके पश्चात् गिरकर वह नियमसे पहले गुणस्थानमें ही आ जाता है।

३ मिश्र या सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान- चौथे गुणस्थानवाले जीवके सब सम्यक्-मिथ्यात्व नामक दर्शनमोहनीय कर्मका उदय आता है, तो वह जीव चौथे गुणस्थानसे गिरकर तीसरे मिश्र गुणस्थानमें आ जाता है। इस गुणस्थानमें जीवके परिणाम सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनों प्रकारके भावोंसे मिले हुए होते हैं, इसी लिए इसका नाम मिश्र या सम्यग्मिथ्यात्व है। इस गुणस्थानका जघन्य और उच्छृष्ट काल अन्तर्मुहुर्त ही है। इस कालके समाप्त होनेपर यदि वह

ऊपर चढ़नेका पुरुषार्थ करे, तो चौथे गुणस्थानमें चढ़ सकता है, अन्यथा नीचे गिरता हुआ पहले गुणस्थानमें जा पहुंचता है ।

४ अविरतसम्यग्दृष्टि - प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव जब पुरुषार्थ करके अपनी अनादि-कालीन मिथ्या दृष्टिको छोड़ कर सच्ची दृष्टिको प्राप्त करता है, तब वह चौथे गुणस्थानको प्राप्त होता है । इस सच्ची दृष्टिको जैन परिभाषामें सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व कहते हैं । आत्माका यथार्थ स्वरूप राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोधादि विकारी भावोंसे रहित शुद्ध, बुद्ध एवं शान्तिरूप है, अर्थात् सत्-चित्-आनन्दमय है । मिथ्यास्वी जीवको आत्माके इस शुद्ध स्वरूपके अभीतक दर्शन नहीं हुए थे, अतः वह अपनी वैभाविक वर्तमान परिणतिकोही अपना स्वरूप समझ रहा था । जब जीवके वह मिथ्यात्वभाव छूट कर सम्यक्त्व भाव प्रकट होता है, तब जैसे जन्मान्ध पुरुषके नेत्र खुल जाने पर प्रत्येक वस्तुके रूपका यथार्थ दर्शन होने लगता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवको अपनी आत्माके शुद्ध रूपका यथार्थ दर्शन हो जाता है । आत्मदर्शन होनेके साथही वह एक अनिर्वचनीय आनन्दका अनुभव करता है और जिन सांसारिक वस्तुओंको अभीतक अपनी मानकर उनकी प्राप्तिके लिए आकुल-व्याकुल हो रहा था, उससे विमुक्त होकर निराकुलत्वरूप स्वाधीन सुखके सागरमें गोते लगाता है । उस समय उसके कषायके अभावसे प्रशमभाव प्रकट होता है, यथार्थ ज्ञानसे उसके हृदयमें संसारसे संवेग और निर्वेद भाव उत्पन्न होता है । प्राणिमात्रपर कारुण्य-भाव जागता है और मैं अपनी इसी परिणतिमें स्थिर रहूं - निमग्न रहूं, इस प्रकारका आरिक्त्वभाव प्रकट होता है । इसी भावके कारण उसकी जिन-भाषित तत्त्वोंपर दृढ़ प्रतीति होती है । वह अपने भीतर विद्यमान ज्ञान, दर्शन, सुख, बल, वीर्य आदि गुणोंकोही अपना मानने लगता है और अंतरात्मा बनकर बहिरात्म दृष्टि छोड़कर अपनेमें स्थित शुद्ध, नित्य, त्रैकालिक ज्ञायक परमात्माकी आराधना करता है । संसारके कार्योंसे उदासीन रहता है । इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवके परिणाम सदा विशुद्ध रहने लगते हैं । उसकी अन्यायरूप प्रवृत्ति छूट जाती है और न्यायपूर्वक आजीविकादि कार्य करने लगता है । मोहनीय कर्मके दो भेद बतलाये गये हैं - दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय । इस गुणस्थानवालेके चारित्रमोहनीयका उदय रहनेसे व्रत, शील, संयम आदि पालन करनेके भाव तो जीवके नहीं होते हैं । किन्तु चारित्रमोहके अनन्तानु-बन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम, क्षय और क्षयोपशम इस गुणस्थानमें होता है । उक्त कर्मोंके कुछ काल तक उदयमें नहीं आनेको उपशम कहते हैं । उनके सर्वथा विनष्ट हो जानेको क्षय कहते हैं । तथा उन्हीं सर्वघाती प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय और सद्वस्त्वरूप उपशमके साथ देशघाती सम्यक्त्वप्रकृतिके उदय होनेको क्षयोपशम कहते हैं । दर्शन मोहके उपशमसे जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, उसे औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं । क्षयसे जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, उसे क्षायिकसम्यग्दर्शन कहते हैं और क्षयोपशमसे जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, उसे क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन कहते हैं । सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयकी प्रधानतासे अर्थात्

उसके उदयकों वेदन (अनुभवन) करनेसे उसे वेदक सम्यग्दर्शन भी कहते हैं। इनमें जिस जिस जीवको क्षायिकसम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है, वह जीव कभी भी नीचे नहीं गिरता, अर्थात् मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं होता है, उसे जिनभाषित तत्त्वोंमें किसी प्रकारका सन्देह भी नहीं होता और न वह मिथ्यादृष्टियोंके अतिशयोंको देखकर आश्चर्यको ही प्राप्त होता है। औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव भी इसी प्रकारका है, किन्तु परिणामोंके निमित्तसे उपशम सम्यक्त्वको छोड़कर मिथ्यात्व गुणस्थानमें जा पड़चता है, कभी सासादन गुणस्थानको भी प्राप्त करता है, कभी सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें भी जा पड़चता है और कभी वेदकसम्यग्दर्शनको भी प्राप्त कर लेता है। जो क्षायोपशमिक या वेदक सम्यग्दृष्टि जीव है, वह शिथिल श्रद्धानी होता है। जैसे वृद्ध पुरुषके हाथकी लकड़ी भूमिमें स्थिर रहनेपर भी ऊपरसे हिलती रहती है, उसी प्रकार वेदक सम्यग्दृष्टि जीवका श्रद्धान भी आत्माके ऊपर दृढ़ होनेपर भी तत्त्वार्थके विषयमें शिथिल होता है। अतः कुहेतु और कुदृष्टान्तोंसे उसके सम्यक्त्वकी विराधना होनेमें देर नहीं लगती।

इन तीनों प्रकारके सम्यग्दर्शनोंमेंसे उपशमसम्यक्त्वका जघन्य और उत्कृष्ट काल एक अन्तर्मुहूर्त ही है। क्षायिकसम्यक्त्वका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल संसार-वासकी अपेक्षा कुछ कम दो पूर्व-कोटि वर्षसे अधिक तेत्तीस सागर है, तथा मोक्ष-निवासकी अपेक्षा अनन्त-काल है। वेदक सम्यक्त्वका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल छयासठ सागर है। कहनेका भाव यह है कि कोई जीव यदि औपशमिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर चौथे गुणस्थानमें आता है तो उसकी अपेक्षा उसका काल अन्तर्मुहूर्त ही है। और यदि क्षायिक या वेदक सम्यक्त्वके साथ चौथे गुणस्थानमें रहता है तो ऊपर इन दोनोंका जो उत्कृष्ट काल बतलाये हैं, उतने काल तक वह जीव चौथे गुणस्थानमें बना रहता है।

५ देशसंयत गुणस्थान- सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके पश्चात् जब जीवके अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायोंका क्षयोपशम होता है, तब जीवके भाव श्रावकव्रत-धारण करनेके होते हैं और वह अपनी शक्तिके अनुसार श्रावककी ११ प्रतिमाओं (कक्षाओं) मेंसे यथा संभव प्रतिमाओंके व्रतोंको धारण करता है। इस गुणस्थानवाला जीव भीतरसे सकलसंयम अर्थात् सम्पूर्ण चारित्र्य को धारण करनेके भाव रखते हुए भी प्रत्याख्यानावरण कषायके तीव्र उदयसे उसे धारण नहीं कर पाता है, अतः यह स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहरूप पंच पापोंका यावज्जीवनके लिए त्याग करता है। दिग्ब्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डविरत इन तीन गुणव्रतों को भी धारण करता है। प्रतिदिन तीनों संध्याओंमें कमसे कम दो घड़ी (४८ मिनिट) काल बैठकर सामायिक करता है, अर्थात् प्राणिमात्रके साथ समताभावकी उपासना करता हुआ इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंमें रागद्वेषका परित्याग करता है। प्रत्येक पक्षकी अष्टमी और चतुर्दशीको अन्न-जलका और व्यापारादि कार्योंका परित्याग करके उपवास अंगीकार कर दिन-रातका सारा समय धर्म साधनमें व्यतीत करता है। खान-पान और दैनिक-व्यवहारकी वस्तुओंमेंसे आवश्यकोंको

रखकर अनावश्यकोंका यावज्जीवनके लिए त्याग करता है। तथा उसमें भी दैनिक आवश्यकताओंको दृष्टिमें रख कर कुछके सेवनको रख कर शेषके त्यागका नियम करता रहता है। तथा नियमपूर्वक प्रतिदिन अतिथि (साधु-श्रावक या असंयत सम्यग्दृष्टि) को आहारदान देता है, रोगियोंको औषधिदान देता है, जिज्ञासुओं और विद्यार्थियोंको ज्ञानदान देता है, तथा भय-भीतों, अनाथों और निर्बलोंकी सहायता कर उन्हें अभयदान देता है। कहनेका सारांश यह कि इस गुणस्थानवाला जीव एक श्रेष्ठ नागरिक व्यक्तिका आदर्श जीवन व्यतीत करता है। इस गुणस्थानका दूसरा नाम संयतासंयत है, इसका कारण यह है कि वह त्रस जीवोंकी हिंसाका सर्वथा त्यागी होनेसे तो संयत (संयमी) है और स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्यागी न होनेसे असंयत (असंयमी) है। इस प्रकार एकही समयमें संयत और असंयतके दोनों रूपोंको धारण करनेसे संयतासंयत कहलाता है। यह संयतासंयत धीरे धीरे अपने असंयत भावको घटाता और संयत भावको बढ़ाता हुआ ग्यारहवीं प्रतिमाकी उस उच्चश्रेणी पर पहुँचता है, जहाँ उसकी निजी आवश्यकताएं अत्यल्प रह जाती हैं। वह वस्त्रोंमें एक कौपिन (लंगोठ) को रखता है, निरुद्दिष्ट आहार लेता है और घर-भार छोड़कर साधु-आवासोंमें रहने लगता है। इस गुणस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्तसे कम एक पूर्व कोटी वर्ष है। यहां इतना विशेष ज्ञातव्य है कि जो जीव उपशम सम्यक्त्वके साथ श्रावकके व्रत-धारण करनेरूप संयमासंयमको प्राप्त होता है, वह अन्तर्मुहूर्तके भीतर भी यदि वेदक या क्षायिक सम्यक्त्वको नहीं धारण करता है, तो वह इस गुणस्थानसे गिरकर नीचेके गुणस्थानोंमें चला जाता है।

६ प्रमत्तसंयतगुणस्थान- चारित्रमोहनीयका तीसरा भेद जो प्रत्याख्यानावरण कषाय है, उसका क्षयोपशम होनेपर जीव सकलसंयमको अंगीकार करता है; अर्थात् सर्व सावद्ययोगका सूक्ष्म और स्थूलरूप-हिंसादि पांचों पापोंका मन, वचन, कायसे और कृत, कारित, अनुमोदनासे यावज्जीवनके लिए त्याग कर महाव्रतोंको अंगीकार करता है। शौचका साधन कमण्डलु, ज्ञानका साधन शास्त्र और संयमका साधन मयूर पिच्छी इन तीन उपकरणोंको छोड़ वह सभी प्रकारके बाह्य परिग्रहोंका त्यागी होता है। फिरभी संज्वलन और नोकषायोंके उदयसे इसके प्रमादरूप अवस्था होती है। ये प्रमाद १५ हैं— चार विकथा, चार कषाय, पांच इंद्रियां, एक निद्रा और एक प्रणय (स्नेह)। इन पंद्रह प्रकारके प्रमादोंमेंसे जिस किसी समय जिस किसी प्रमादरूप परिणती होती रहनेसे इस गुणस्थानवर्ती जीवका नाम प्रमत्त संयत है। इस गुणस्थानका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त ही है। जिसका अभिप्राय यह है कि प्रमत्तसंयत साधु अन्तर्मुहूर्त कालके भीतरही अपनी प्रमत्त दशाको छोड़कर अप्रमत्त होता है और आत्म-स्वरूपके चिन्तनमें लग जाता है। पर आत्म-स्वरूपका चिन्तन भी तो स्थायी नहीं रह सकता और उससे उपयोग हटते ही वह पुनः किसी प्रमादरूपसे परिणत हो जाता है। जिस प्रकार जागृत दशा रहनेपर भी आंखोंका

उन्मीलन और निमीलन होता रहता है, उसी प्रकार इस गुणस्थानवर्ती साधुकी भी आत्मोन्मुखी और बहिर्मुखी प्रवृत्ति होती रहती है ।

७ अप्रमत्तसंयतगुणस्थान— ऊपर जिस आत्मोन्मुखी प्रवृत्तिका उल्लेख किया गया है उसमें वर्तमान साधुको अप्रमत्तसंयत कहते हैं । जब तक वह सकलसंयमी साधु आत्मस्वरूपके चिन्तनमें निरत (तल्लीन) रहता है, तब तक उसके सातवां गुणस्थान जानना चाहिये । यद्यपि इस गुणस्थानका भी जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त ही है, तथापि छठे गुणस्थानके कालसे सातवां गुणस्थानका काल स्थूल मानसे आधा जानना चाहिए । इसका कारण यह है कि आत्मस्वरूपके चिन्तनरूप परम समाधिकी दशामें कोई भी जीव अधिक कालतक नहीं रह सकता । कहनेका अभिप्राय यह है कि साधुकी प्रवृत्ति या चित्त-परिणतिमें हर अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् परिवर्तन होता रहता है और वह छठे गुणस्थानसे सातवेंमें और सातवेंसे छठे गुणस्थानमें आता जाता रहता है और इस प्रकार परिवर्तनका यह क्रम उस मनुष्य के जीवनपर्यन्त चलता रहता है । यहां इतना विशेष जानना चाहिए कि जो उपशम सम्यक्त्व के साथ सकलसंयमको प्राप्त होते हैं और उपशम सम्यक्त्वका काल समाप्त होने के साथ ही वेदक या क्षायिक सम्यक्त्वको नहीं प्राप्त हो पाते हैं, वे साधु अन्तर्मुहूर्त कालतक संयमी रहकर उससे च्युत हो जाते हैं और नीचे के गुणस्थानोंमें चले जाते हैं ।

सकलसंयमके धारण करनेवाले सप्तम गुणस्थानवर्ती जीवोंमें कुछ विशिष्ट व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो आगेके गुणस्थानोंमें चढ़नेका प्रयास करते हैं । जो ऐसा प्रयास करते हैं, उन्हें सातिशय अप्रमत्तसंयत कहते हैं । वे जीव इसी गुणस्थानमें रहते समय चारित्रमोहनीय कर्मके उपशम या क्षयके लिए अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणरूप विशिष्ट परिणामोंकी प्राप्ति प्रयत्न करते हैं । उनमेंसे अधःकरणरूप परिणामोंकी प्राप्ति तो सातवें ही गुणस्थानमें हो जाती है । किन्तु अपूर्वकरणरूप परिणामविशेषकी प्राप्ति आठवें गुणस्थानमें और अनिवृत्तिकरणरूप परिणाम-विशेषकी प्राप्ति नवें गुणस्थानमें होती है ।

१ अधःकरण परिणाम— जब जीव चारित्र मोहनीयके उपशम या क्षयके लिए उद्यत होता है, तब अन्तर्मुहूर्त काल तक उसके परिणाम यद्यपि उत्तरोत्तर विशुद्ध होते रहते हैं, तथापि उसके परिणामोंकी यदि तुलना उसके पीछे अधःकरण परिणामोंको मांडनेवाले जीवके साथ की जाय तो कदाचित् किसी जीवके परिणामोंके साथ सदृशता पाई जा सकती है । इसका कारण यह है कि इस जातिके परिणामोंके असंख्य भेद हैं । पहिला जीव मध्यम जातिकी जिस विशुद्धिके साथ चट्टा हुआ तीसरे या चौथे समय में जिस जातिकी विशुद्धिको प्राप्त करता है, दूसरा जीव उतनीही विशुद्धिके साथ पहलेही समयमें चढ़ सकता है । अतः उस पहलेवाले जीवके परिणाम इस अधस्तन समयवर्ती जीवके परिणामोंके साथ समानता रखते हैं, अतः उन्हें अधःकरण परिणाम कहते हैं ।

कहनेका अभिप्राय यह कि जो परिणाम किसी एक जीवके प्रथम समयमें हो सकता है, वही परिणाम किसी दूसरे जीवके दूसरे समयमें, तीसरे जीवके तीसरे समयमें और चौथे जीवके चौथे समयमें हो सकता है। इस प्रकार उपरिस्तन समयवर्ती जीवोंके परिणाम अधस्तन समयवर्ती जीवोंके परिणामोंके साथ सदृशता रखते हुए, अधःप्रवृत्त करणके कालमें पाये जाते हैं। यद्यपि इस करणके मांडनेवाले प्रत्येक जीवके परिणाम आगे आगेके समयोंमें उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धिको लिए हुए ही होते हैं, तथापि उसके साथ उन्हीं समयोंमें वर्तमान अन्य जीवोंके परिणाम कदाचित् सदृश भी हो सकते हैं और कदाचित् विसदृश भी हो सकते हैं। यही बात उसके पीछे इस करणके मांडनेवाले जीवोंके परिणामोंके विषयमें जानना चाहिए। अधःकरण परिणामका काल समाप्त होते ही सातिशय अप्रमत्तसंपतगुणस्थानका काल समाप्त हो जाता है और वह जीव आठवें गुणस्थानमें प्रवेश करता है।

यहां यह ज्ञातव्य है कि आगेके पांच गुणस्थान दो श्रेणियोंमें विभक्त हैं— एक उपशम-श्रेणी और दूसरी क्षपकश्रेणी। जो जीव मोहनीयकर्मके उपशमनके लिए उद्यत होता है, वह उपशमश्रेणीपर चढ़ता है और जो कर्मोंके क्षय करनेके लिए उद्यत होता है, वह क्षपक श्रेणीपर चढ़ता है। उपशमश्रेणीके चार गुणस्थान हैं— आठवां, नवां, दशवां और ग्यारहवां। क्षपकश्रेणीके भी चार गुणस्थान हैं— आठवां, नववां, दशवां और बारहवां। इन दोनों ही श्रेणियोंका जन्म और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है। तथा प्रत्येक श्रेणीके प्रत्येक गुणस्थानका कालभी अन्तर्मुहूर्त है। आगे दोनों ही श्रेणियोंके गुणस्थानोंका एक साथ ही वर्णन किया जायगा। यहीं एक बात और भी जानने के योग्य है कि वेदकसम्यक्त्व सातवेंसे आगे के गुणस्थानोंमें नहीं होता है। अतः जो भी जीव ऊपर चढ़ना चाहता है, उसका द्वितीयोपशमसम्यक्त्व या क्षायिकसम्यक्त्वको यहीं धारण करना आवश्यक है। क्षायिकसम्यक्त्वी जीव तो दोनोंही श्रेणियोंपर चढ़ सकता है, किन्तु द्वितीयोपशम सम्यक्त्वी केवल उपशमश्रेणीपर ही चढ़ता है।

८ **अपूर्वकरणसंयतगुणस्थान**— अधःप्रवृत्तकरणके कालमें वर्तमान जीव किसीभी कर्मका उपशम या क्षय नहीं करता है, किन्तु प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिसे बढ़ता रहता है। आठवें गुणस्थानमें प्रवेश करतेही अधःकरणकी अपेक्षा उसके परिणामोंकी विशुद्धि और भी अनन्तगुणी हो जाती है। इस प्रकारकी विशुद्धिवाले परिणाम इसके पूर्व कभी नहीं प्राप्त हुए थे, इस लिए इन्हें अपूर्वकरण (परिणाम) कहते हैं। जिसप्रकार अधःकरणमें भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश और विसदृश दोनोंही प्रकारके होते हैं, वैसा अपूर्वकरणमें नहीं है। किन्तु यहांपर भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम अपूर्व ही अपूर्व होते हैं, अर्थात् विसदृश ही होते हैं, सदृश नहीं होते। इस गुणस्थानमें प्रवेश करनेके प्रथम समयसे ही चार कार्य प्रत्येक जीवके प्रारम्भ हो जाते हैं— १ गुणश्रेणीनिर्जरा, २ गुणसंक्रमण, ३ स्थितिकांडकघात और ४ अनुभागकांडकघात। प्रतिसमय

असंख्यात गुणित श्रेणीके क्रमसे कर्म-प्रदेशोंकी निर्जरा करनेको गुणश्रेणीनिर्जरा कहते हैं। यहांपर जिन अप्रशस्त प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता है, उनकी सत्तामें स्थित कर्म-वर्गणाओंको उस समय बंधनेवाली अन्य प्रकृतियोंमें असंख्यात गुणितश्रेणीके रूपसे संक्रमण करनेको गुणसंक्रमण कहते हैं। विद्यमान कर्मोंकी स्थितियोंके सहस्रों कांडकोंके घातको स्थितिकांडकघात और उन्हीं कर्मोंके सहस्रों ही अनुभाग-काण्डकोंके घातको अनुभागकांडकघात कहते हैं। इस प्रकार इन चारों ही कार्योंको करते हुए वह अपूर्वकरणका काल समाप्त करता है। यद्यपि इस गुणस्थानमें भी जीव किसी भी कर्मका उपशम या क्षय नहीं करता है, तथापि वह उक्त चारों क्रिया-विशेषोंके द्वारा अपने कर्म भारको बहुत कुछ हल्का कर देता है।

९ अनिवृत्तिकरणगुणस्थान- इस गुणस्थानमें प्रवेश करनेवाले जीवके परिणामभी प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिसे बढ़ते रहते हैं और यहांपर भी अपूर्वकरणके समानही उक्त चारों कार्य होते हैं। इस प्रकार इस गुणस्थानके कालका बहुभाग व्यतीत होनेपर उपशम श्रेणीपर चढ़ा हुआ जीव अप्रत्याख्यानादि बारह कषाय और नव नोकषाय इन इक्कीस मोह-प्रकृतियोंका अन्तरकरण करता है। इन प्रकृतियोंकी विवक्षित स्थलसे नीचे और ऊपरकी कितनीही स्थितियोंको छोड़कर अन्तर्मुहूर्तप्रमाण मध्यवर्ती स्थितियोंके निषेकोंके द्रव्यको ऊपर और नीचेकी स्थितियोंके द्रव्यमें निक्षेपण करके वहांके निषेकोंके अभाव करनेको अन्तरकरण कहते हैं। अन्तरकरणके पश्चात् उपशामक जीव सर्वप्रथम नपुंसकवेदका उपशम करता है, तदनन्तर स्त्रीवेदका और उसके पश्चात् हास्यादि छह नोकषायोंका और पुरुषवेदका उपशम करता है। तत्पश्चात् अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क और प्रत्याख्यानावरणचतुष्क इन आठों मध्यम कषायोंका उपशम करता है। इसके अनन्तर क्रमसे संज्वलन, क्रोध, मान, माया और बादर लोभका उपशम करके नववें गुणस्थानके कालको समाप्त करता है। किन्तु जो जीव क्षपकश्रेणीपर चढ़कर इस गुणस्थानमें आया है, वह नववें गुणस्थानके बहुभाग व्यतीत होनेपर सर्वप्रथम १ स्थानगृद्धि, २ निद्रानिद्रा, ३ प्रचलाप्रचला, ४ नरकगति, ५ नरकगत्यानुपूर्वी, ६ तिर्यग्गति, ७ तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, ८ एकेन्द्रियजाति, ९ द्वीन्द्रियजाति १० त्रीन्द्रियजाति, ११ चतुरिन्द्रियजाति, १२ आतप, १३ उद्योत, १४ स्थावर, १५ सूक्ष्म, और १६ साधारण इन सोलह प्रकृतियोंका क्षय करता है। तदनन्तर आठ मध्यम कषायोंका क्षय करता है। तदनन्तर चार संज्वलन और नव नोकषायोंका अन्तर करके सर्वप्रथम नपुंसकवेदका क्षय करता है, पुनः स्त्रीवेदका क्षय करता है और तत्पश्चात् छह नोकषायोंका और पुरुषवेदका क्षय करता है। इसके पश्चात् क्रमसे संज्वलन क्रोध, मान, माया और बादर लोभका क्षय करके नववें गुणस्थानका काल समाप्त करता है।

१० सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान- इस गुणस्थानमें यतः सूक्ष्मसाम्पराय अर्थात् सूक्ष्म लोभकषाय विद्यमान है, अतः इसे सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं। जो उपशमश्रेणीसे चढ़ता हुआ यहां आया है, वह एक अन्तर्मुहूर्त काल तक सूक्ष्म लोभका वेदन (अनुभवन) करके अन्तिम समयमें

उसका भी उपशम करके ग्यारहवें गुणस्थानमें प्रवेश करता है । किन्तु जो क्षपकश्रेणीपर चढ़ता हुआ इस गुणस्थानको प्राप्त हुआ है, वह अन्तर्मुहूर्त तक सूक्ष्म लोभका वेदन करता और प्रति-समय उसके द्रव्यका असंख्यातगुणश्रेणीरूपसे निर्जरा करता हुआ अन्तिम समयमें उसका क्षय करके बारहवें गुणस्थानमें प्रवेश करता है ।

११ उपशान्तमोहगुणस्थान - इस गुणस्थानमें वर्तमान जीवके मोहनीय कर्मकी समस्त प्रकृतियां उपशान्त हो चुकी हैं, अतः उसे उपशान्त मोह या उपशान्तकषाय कहते हैं । जिस-प्रकार गंदले जलमें कतक (निर्मली) फल या फिटकरी डाल देनेपर उसका गंदलापन उपशान्त हो जाता है और ऊपर एकदम स्वच्छ जल रह जाता है, अथवा जैसे शरदृक्तुमें सरोवरका जल गंदलापन नीचे बैठ जानेसे एकदम स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण मोहकर्मके उपशान्त हो जानेसे इस गुणस्थानवर्ती जीवके परिणामोंमें एकदम निर्मलता आ जाती है और वह छद्मस्थ (अल्पज्ञ) रहते हुए भी यथाख्यात चारित्रको प्राप्त कर वीतराग संज्ञाको प्राप्त कर लेता है । किन्तु इस गुण-स्थानका अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कालके समाप्त होते ही उपशान्त हुई कषाय पुनः उदयमें आ जाती हैं और यह ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरकर वापिस नीचेके गुणस्थानोंमें चला जाता है ।

१२ क्षीणमोहगुणस्थान- क्षपकश्रेणीपर चढ़ते हुए जिस जीवने दशवें गुणस्थानके अन्तमें सूक्ष्म लोभका क्षय कर दिया है, वह मोहके सर्वथा क्षय हो जानेसे दशवेंसे एकदम बारहवें गुणस्थानमें पहुँचता है और छद्मस्थ होते हुए भी यथाख्यातचारित्रको पाकर वीतराग संज्ञाको प्राप्त करता है । इस गुणस्थानका काल भी अन्तर्मुहूर्त है । जब उस कालमें दो समय शेष रह जाते हैं, तब निद्रा और प्रचला इन दो कर्मोंका एक साथ क्षय करता है । तत्पश्चात् अन्तिम समयमें ज्ञानावरणीयकर्मकी पांच प्रकृतियां, दर्शनावरणकी शेष रही चार प्रकृतियां और अन्तरायकी पांच प्रकृतियां इन चौदह प्रकृतियोंका एक साथ क्षय करके सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बनता हुआ तेरहवें गुणस्थानमें प्रवेश करता है ।

१३ सयोगिकेवलीगुणस्थान- दशवें गुणस्थानके अन्तमें मोहकर्मके और बारहवें गुणस्थानके अन्तमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणकी, और अन्तरायकर्मके सर्वथा क्षय हो जानेसे जिनके क्षायिकअनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्यरूप, अनन्तचतुष्टय, तथा इनके साथ क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग और क्षायिक उपभोग, ये नौ लब्धियां प्रकट हो गई हैं और केवलज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंके समूहसे जिनका अज्ञानरूपी अन्धकार सर्वथा नष्ट हो गया है, अतः जिन्होंने परमात्मपदको प्राप्त कर लिया है, जो योगसेसहित होनेके कारण सयोगी कहलाते हैं और असहाय केवलज्ञान और केवलदर्शनसे सहित होनेके कारण केवली कहलाते हैं, ऐसे अरिहन्त परमेष्ठीकी सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व अवस्था इस गुणस्थानमें प्रकट हो जाती है । ये सयोगिकेवली भगवान् एक भी कर्मका क्षय नहीं करते हैं; किन्तु अवशिष्ट रहे

हुए चार अघातिया कर्मोंमेंसे आयुर्कर्मको छोड़कर शेष नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन कर्मोंके सत्त्वकी प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा करते हुए संसारमें जीवन-पर्यंत विहार करते हैं और प्राणिमात्रको धर्मका उपदेश देते रहते हैं। इस गुणस्थानका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है और उष्णकाल आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्तसे कम एक पूर्वकोटी वर्ष है।

१४ अयोगिकेवलीगुणस्थान— जब उपर्युक्त सयोगिकेवली जिनकी आयु अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण शेष रह जाती है, तब वे योग-निरोध करके अयोगिकेवली बनकर इस गुणस्थानमें प्रवेश करते हैं। योगका अभाव हो जानेसे उनके कर्मास्त्रका सर्वथा अभाव हो जाता है और इसी कारण वे नवीन कर्म बन्धसे सर्वथा मुक्त हो जाते हैं, तथा सत्तामेंस्थित सर्व कर्मोंके क्षयके उन्मुख हैं। वे शीलके अठारह हजार भेदोंके स्वामी हो जाते हैं, चौरांसीलाख उत्तर गुणोंकी पूर्णता भी उनके हो जाती है और योगके अभावसे आत्म-प्रदेशोंके निष्कम्प हो जानेके कारण वे शैल (पर्वत) के समान अचल, स्थिर, शान्त दशाको प्राप्त हो जाते हैं। इस गुणस्थानका काल लघु अन्तर्मुहूर्त मात्र है, अर्थात् अ, इ, उ, ऋ, लृ, इन पांच ह्रस्व स्वरोके उच्चारणमें जितना काल लगता है, उतना है। जब इस गुणस्थानका दो समय प्रमाण काल शेष रहता है, तब ये अयोगिकेवली जिन वेदनीयकर्मकी दोनों प्रकृतियोंमेंसे अनुदयरूप कोई एक, देवगति, पांच शरीर, पांच संघात, पांच बन्धन, छह संस्थान, तीन अंगोपांग, छह संहनन, पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, आठ स्पर्श, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तत्रिहायोगति, अपशस्त-त्रिहायोगति, अपर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, सुस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, निर्माण और नीच गोत्र इन ब्रह्मतर प्रकृतियोंका एक साथ क्षय करते हैं। तत्पश्चात् अन्तिम समयमें उदयको प्राप्त एक वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और यदि तीर्थंकर प्रकृतिका सत्त्व है, तो वह इस प्रकार तेरह प्रकृतियोंका क्षय करके वर्तमान शरीरको छोड़कर सर्व कर्मोंसे विप्रमुक्त होते हुए निर्वाणको प्राप्त होते हैं, अर्थात् सिद्ध परमात्मा बनकर सिद्धालयमें जा पहुँचते हैं और सदाके लिए संसारके आवागमन और परिभ्रमणसे मुक्त हो जाते हैं।

इन चौदह गुणस्थानोंके द्वारा संसारी आत्मा अपने ऊपर आच्छादित राग, द्वेष, मोहादि भावोंको दूर कर आत्म-विकास करके आत्मासे परमात्मा बन जाता है।

मार्गणास्थान

मार्गणा शब्दका अर्थ अन्वेषण (खोज) करना होता है। अतएव जिन नारकादिरूप पर्यायोंके और ज्ञानादि धर्मविशेषोंके द्वारा जिन नारकादिरूप स्थानों में जीवोंका अन्वेषण किया जाता है, उन्हें मार्गणास्थान कहते हैं। ये मार्गणास्थान चौदह हैं— १ गति, २ इन्द्रिय,

३ काय, ४ योग, ५ वेद, ६ कषाय, ७ ज्ञान, ८ संयम, ९ दर्शन, १० लेश्या, ११ भव्यत्व, १२ सम्यक्त्व, १३ संज्ञित्व और १४ आहार मार्गणा ।

१ गतिमार्गणा— एक भवसे निकलकर दूसरे भवमें जानेको गति कहते हैं । अथवा गति नामक नामकर्मके उदयसे जीवकी जो चेष्टाविशेष उत्पन्न होती है, अर्थात् नारक, तिर्यञ्च आदि रूपसे परिणमन होता है, उसे गति कहते हैं । गति चार प्रकारकी है— नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति और देवगति । संसारके समस्त प्राणियोंका इन चारों ही गतियोंमें निवासस्थान है । जो संसारके परिभ्रमणसे मुक्त हो गये हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं और वे सिद्धालयमें रहते हैं, जिसे कि पांचवी सिद्धगति कही जाती है । इस प्रकार गतिमार्गणाके द्वारा सर्व प्राणियोंका अन्वेषण या परिज्ञान हो जाता है ।

२ इन्द्रियमार्गणा— इन्द्र नाम आत्माका है, उसके अस्तित्वकी सूचक अविनाभावी शक्ति, लिंग या चिन्ह विशेषको इन्द्रिय कहते हैं । ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशम-विशेषसे संसारी जीवोंके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दरूप अपने अपने नियत विषयोंको ग्रहण करनेकी शक्तिकी विभिन्नतासे इन्द्रियोंके पांच भेद हैं— स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय । जातिनाम कर्मके उदयसे जिन जीवोंके एकमात्र स्पर्शनेन्द्रिय पाई जाती है, ऐसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकायिक जीवोंको एकेन्द्रिय जीव कहते हैं । जिनके स्पर्शन, रसना ये दो इन्द्रियां पाई जाती हैं, ऐसे लट, केंचुआ आदि जीवोंको द्वीन्द्रिय जीव कहते हैं । जिनके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां पाई जाती हैं, ऐसे कीड़ी, मकोड़ा, खटमल, जू इत्यादि जीवोंको त्रीन्द्रिय जीव कहते हैं । जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियां पाई जाती हैं, ऐसे भौंरा, मकखी, मच्छर आदि जंतुओंको चतुरिन्द्रिय जीव कहते हैं । जिनके पांचोंही इन्द्रियां पाई जाती हैं, ऐसे मनुष्य, देव, नारकी और गाय, भैस आदि पशु और कबुतर, मयूर, हंस आदि पक्षियोंको पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं । पंचेन्द्रिय जीवोंमें जो तिर्यग्गतिके जीव हैं, उनमें कुल्लके मन पाया जाता है और कुल्लके नहीं । जिनके मन होता है, उन्हें संज्ञी और जिनके नहीं होता है, उन्हें असंज्ञी कहते हैं । इस प्रकार संसारके समस्त प्राणियोंका संग्रह या अन्वेषण इन पांचों इन्द्रियोंके द्वारा हो जाता है । जो इन्द्रियोंके सम्पर्कसे रहित हो गये हैं, ऐसे सिद्धोंको अतीन्द्रिय कहते हैं ।

३ कायमार्गणा— आत्माकी योगरूप प्रवृत्तिसे संचित हुए औदारिकादिशरीररूप पुद्गलपिण्डको काय कहते हैं । त्रस और स्थावर नामकर्मके उदयसे समस्त जीवराशि त्रसकायिक और स्थावरकायिक इन दो भागोंमें समाविष्ट हो जाती है । पृथ्वीकायिक आदि पांच एकेन्द्रिय जीवोंको स्थावरकायिक कहते हैं और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवोंको त्रसकायिक कहते हैं । जो जीव कर्मक्षय करके मुक्त हो चुके हैं, उन्हें अकायिक जीव जानना चाहिए ।

४ योगमार्गणा— प्रदेश-परिस्पन्दरूप आत्माकी प्रवृत्तिके निमित्तसे कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारणभूत शक्तिकी उत्पत्तिको योग कहते हैं । अथवा आत्म-प्रदेशोंके संकोच और विस्तार-रूप क्रियाको योग कहते हैं । योगके तीन भेद हैं— मनोयोग, वचनयोग और काययोग । वस्तु-स्वरूपके विचारके कारणभूत भावमनकी उत्पत्तिके लिए जो आत्म-प्रदेशोंमें परिस्पन्द होता है, उसे मनोयोग कहते हैं । वचनोंकी उत्पत्तिमें जो योग कारण होता है, उसे वचनयोग कहते हैं और कायकी क्रियाकी उत्पत्तिके लिए जो प्रयत्न होता है, उसे काययोग कहते हैं । इन तीनों योगोंमेंसे एकेन्द्रिय जीवोंके केवल एक काययोग पाया जाता है । द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीवोंके वचनयोग और काययोग ये दो योग पाये जाते हैं । संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके तीनोंही योग पाये जाते हैं । इस प्रकार इन तीनों योगोंके द्वारा सर्व तेरहवें गुणस्थान तकके सर्व जीवोंको अनुमार्गणा हो जाता है । जो योगोंसे रहित हैं, ऐसे चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगिकेवली और सिद्ध जीवोंको अयोगी जानना चाहिए ।

५ वेदमार्गणा— चारित्रमोहनीयकर्मका भेद जो वेद नोकषायवेदनीय है, उसके उदयसे स्त्री, पुरुष या उभयके विषय सेवनरूप भावोंको वेद कहते हैं । वेदके तीन भेद हैं— स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद । स्त्रियोंको पुरुषोंके साथ रमनेकी जो इच्छा होती है, उसे स्त्रीवेद कहते हैं । पुरुषोंको स्त्रियोंके साथ रमनेकी अभिलाषाको पुरुषवेद कहते हैं । स्त्री और पुरुष दोनोंके साथ रमनेकी अभिलाषाको नपुंसकवेद कहते हैं । अथवा उक्त दोनों वेदोंकी अभिलाषारूप प्रवृत्तिसे भिन्न जिस किसीभी प्राणी या उसके अंग-उपांगोंके साथ रमनेके भावको नपुंसकवेद कहते हैं । एकेन्द्रियोंसे लेकर असंज्ञीपंचेन्द्रियों तकके सर्व जीव नपुंसकवेदीही होते हैं । संज्ञीपंचेन्द्रियोंमें तीनों-वेदी जीव होते हैं । उनमें भी नारकियोंके केवल नपुंसकवेद होता है और देवोंके स्त्री वा पुरुष ये दो वेद होते हैं । मनुष्य और संज्ञीपंचेन्द्रियोंमें तीनों वेदवाले जीव पाये जाते हैं । गुणस्थानोंकी अपेक्षा ये तीनों वेद नववें गुणस्थानके सवेद भाग तक पाये जाते हैं, उससे ऊपरके शेष गुणस्थान-वर्ती मनुष्य और सिद्धोंको अवेदी जानना चाहिए ।

६ कषायमार्गणा— जो सुख-दुःखको उत्पन्न करनेवाले कर्मरूपी क्षेत्रका कर्षण करे, आत्माके सम्यग्दर्शन, संयमासंयम, सकलसंयम और यथाख्यातचारित्रिको न होने दे, उसे कषाय कहते हैं । कषायके चार भेद हैं— क्रोध, मान, माया और लोभ । संसारके क्षुद्रसे क्षुद्र एकेन्द्रिय प्राणीसे लेकर चारों गतियोंके पंचेन्द्रिय प्राणियोंतक सभीके ये चारों कषाय पाई जाती हैं । यहां तक कि आत्म-विकास करनेवाले जीवोंके भी नववें गुणस्थान तक चारों कषाय पाई जाती हैं । नववें गुणस्थानमें क्रोध, मान, माया कषायका क्षय होता है । लोभकषाय दशवें गुणस्थानतक पाया जाता है, उसके अन्तमें ही लोभ कषायका क्षय होता है । इसके ऊपर कषायोंका अभाव होनेसे ग्यारहवें आदि चार गुणस्थानवर्ती जीवोंको और सिद्धोंको अकषाय अर्थात् कषाय-रहित

जानना चाहिए । इस प्रकार कषाय मार्गणाके द्वारा समस्त प्राणियोंका अन्वेषण किया जाता है ।

७ ज्ञानमार्गणा— जिसके द्वारा वस्तु-स्वरूप जाना जाता है, उसे ज्ञान कहते हैं । ज्ञानके पांच भेद हैं— आभिनिबोधिक ज्ञान (मतिज्ञान), श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान । अभिमुख स्थित नियमित वस्तुका इन्द्रिय और मनकी सहायतासे जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे आभिनिबोधिकज्ञान कहते हैं । आभिनिबोधिकज्ञानसे जानी हुई वस्तुका आश्रय लेकर उससे सम्बद्ध किन्तु भिन्न ही पदार्थके जाननेको श्रुतज्ञान कहते हैं । जैसे किसी स्थानसे निकलते हुए धूमको देख कर रसोईघर आदिमें स्थित अग्निका ज्ञान करना और धूम शब्दको सुनकर उसके कारणभूत अग्निका ज्ञान होना । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा लेकर इन्द्रियोंकी सहायताके बिनाही रूपी पदार्थके साक्षात् जाननेको अवधिज्ञान कहते हैं । भूतकालमें मनके द्वारा विचारी गई, वर्तमानमें मनःस्थित और आगामी कालमें मनके द्वारा सोची जानेवाली बात जानलेनेको मनःपर्ययज्ञान कहते हैं । त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्योंको तथा त्रैकालिक अनन्तगुण और पर्यायोंके साक्षात् युगपत् जाननेवाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं । इनमेंसे प्रारम्भके तीन ज्ञान मिथ्यारूपभी होते हैं, जिन्हे क्रमशः मति-अज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगाज्ञान कहते हैं । सम्यग्दर्शन होनेके पूर्वतक प्रारम्भके तीन गुणस्थानोंमें संसारीजीवोंके जो मति, श्रुत, अवधिज्ञान होते हैं, उन्हें मिथ्याज्ञानही जानना चाहिए । चौथे गुणस्थानसे लेकर ऊपरके गुणस्थानोंमें जो ज्ञान होते हैं, वे सब सम्यग्ज्ञानही होते हैं । मनःपर्ययज्ञान छठे गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक होता है । केवलज्ञान तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानोंमें और सिद्धोंके होता है ।

८ संयममार्गणा— पंच महाव्रतोंके धारण करना, पंच समितियोंका पालन करना, क्रोधादि कषायोंका निग्रह करना, मन-वचन-कायरूप तीन दण्डोंका त्याग करना और पांच इन्द्रियोंके विषयोंका जीतना संयम है । संयमके पांच भेद हैं— सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात । इनके अतिरिक्त देशसंयम और असंयमभी इसी मार्गणाके अन्तर्गत आते हैं । सर्व सावद्ययोगके त्यागकर अभेदरूप एक संयमको धारण करना सामायिक-संयम है । उसी अभेदरूप एक संयमको दो, तीन, चार, पांच महाव्रतोंके भेदरूपसे धारण करना छेदोपस्थापना संयम है । तीस वर्षतक गृहस्थाश्रममें रहकर और अपनी इच्छानुसार सर्व प्रकारके भोगोंको अच्छी तरहसे भोगकर तदनन्तर मुनिदीक्षा लेकरके जो तीर्थंकरके पादमूलमें वर्षपृथकत्व (तीनसे ऊपर और नौ वर्षसे नीचेकी संख्याको पृथकत्व कहते हैं) कालतक रहकर प्रत्याख्यानपूर्वका भलीभांति अध्ययन करना इस प्रकारकी साधनाको प्राप्त करता है कि उसके गमनागमन, आहार-विहार और शयनासन आदि क्रियाओंको करते हुए किसीभी प्रकार जीवको रंचमात्र भी बाधा नहीं होती है । इस प्रकारकी साधनाविशेषके साथ जो संयमका अभेदरूपसे या भेदरूपसे पालन होता है, उसे परिहारविशुद्धि संयम कहते हैं । जिनकी समस्त कषायें नष्ट हो

गई हैं, केवल एक अतिसूक्ष्म लोभ शेष रह गया है, ऐसे दशम गुणस्थानवर्ती साधुके जो संयम होता है, उसे सूक्ष्मसाम्परायसंयम कहते हैं। कषायोंके सर्वथा अभाव होनेसे जो वीतराग परिणति-रूप चारित्र होता है, उसे यथाख्यातसंयम कहते हैं। श्रावकके व्रत पालनेको देशसंयम कहते हैं। और किसीभी प्रकारके संयम नहीं पालनेको असंयम कहते हैं। प्रारम्भके चार गुणस्थान असंयमरूप ही हैं। देशसंयम पांचवें गुणस्थानमें होता है। सामायिक और छेदोपस्थापनासंयम छठे गुणस्थानसे नववें गुणस्थानतक होते हैं। सूक्ष्मसाम्परायसंयम दशवें गुणस्थानमें होता है। यथाख्यातसंयम ग्यारहवें गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थानतक होता है। इस प्रकार संयमके द्वारा जीवोंके अन्वेषण करने को संयममार्गणा कहते हैं

९ दर्शनमार्गणा— सामान्य विशेषात्मक पदार्थके विशेष अंशका ग्रहण न करके केवल सामान्य अंशके ग्रहण करनेको दर्शन कहते हैं। अथवा पदार्थको जाननेके लिए उद्यत आत्माको जो आत्म-प्रतिभास होता है, उसे दर्शन कहते हैं। इसके चार भेद हैं— चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। चक्षुरिन्द्रियसे सामान्य प्रतिभासरूप अर्थके ग्रहण करनेको चक्षुदर्शन कहते हैं। चक्षुकेसिवाय शेष इन्द्रिय और मनसे जो सामान्य प्रतिभास होता है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं। अवधिज्ञानके पूर्व उसके विषयभूत पदार्थके सामान्य प्रतिभासको अवधिदर्शन कहते हैं। केवलज्ञानके साथ त्रैकालिक और त्रैलोक्यवर्ती अनन्त पदार्थोंके सामान्य प्रतिभासको केवलदर्शन कहते हैं। अचक्षुदर्शन एकेन्द्रियोंसे लगाकर बारहवें गुणस्थानतक होता है। चक्षुदर्शन चतुरिन्द्रियोंसे लगाकर बारहवें गुणस्थान तक होता है। अवधिदर्शन चौथे गुणस्थानसे बारहवें तक होता है। केवलदर्शन तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीवोंके तथा सिद्धोंके होता है। इस प्रकारसे दर्शनके द्वारा जीवोंके मार्गण करनेको दर्शनमार्गणा कहते हैं।

१० लेश्यामार्गणा— कषायसे अनुराजित योगकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। लेश्याके छह भेद हैं— कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, पीतलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या। तीव्र क्रोध करना, बदला लिये विना वैरका न छोड़ना, लड़ाकू स्वभाव होना, दया-धर्मसे रहित दुष्ट प्रवृत्ति करना, सदा रौद्र ध्यानरूप परिणत होना कृष्णलेश्याके चिन्ह हैं। विषय-लोलुपि होना मानी, मायात्री होना, आलसी और बुद्धि-विहीन होना, धन-धान्यमें तीव्र तृष्णा होना, दूसरेको ठगनेमें तत्पर रहना नीललेश्याके चिन्ह हैं। दूसरोंसे जरासी बातमें रुष्ट होना, परनिन्दा और आत्म-प्रशंसा करना, दूसरेका विश्वास न करना, अपनी प्रशंसा या चापलूसी करनेवालेको धनादिका देना, अपनी हानि-बुद्धि, लाभ-अलाभ और कार्य-अकार्यका विचार न रखना, कापोतलेश्याके चिन्ह हैं। ये तीनों अशुभलेश्याएं कहलाती हैं। हानि-लाभ और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका विचार रखना, दया-दानमें तत्पर रहना, सबपर समान दृष्टि रखना और कोमल परिणामी होना पीत या तेजो-लेश्याके चिन्ह हैं। भद्र परिणामी होना, त्यागी होना, किसीकेद्वारा उपद्रव और उपसर्गादिके

करनेपर भी क्षमाभाव धारण करना, गुरुजनोंकी सेवा-सुश्रूषा करना और व्रत-शीलादिको पालन करना पद्मलेश्याके चिन्ह हैं। किसीके प्रति पक्षपात न करना, किसीसे राग-द्वेष नहीं रखना, अपनी प्रवृत्तिको शान्त रखना, निरन्तर प्रसन्न चित्त रहना, धर्म-सेवन करते हुए भी निदान (फलकी इच्छा) न करना और सर्व प्राणियोंपर समभाव रखना ये शुक्ल लेश्याके चिन्ह हैं। पहले गुणस्थानसे लेकर चौथे गुणस्थान तकके जीवोंके यथासंभव छहों लेश्याएं होती हैं। आगे सातवें गुणस्थान तक पीत आदि तीन शुभ लेश्याएं पाई जाती हैं और आठवेंसे लेकर तेरहवें गुणस्थानतक शुक्ललेश्या होती है। चौदहवें गुणस्थानवर्ती और सिद्धजीव लेश्याओंके लेपसे रहित होनेके कारण अलेश्य कहलाते हैं। इस प्रकारसे लेश्याओंके द्वारा जीवोंके अन्वेषण करनेको लेश्यामार्गणा कहते हैं।

११ भव्यत्वमार्गणा- जिन जीवोंमें मोक्ष जानेकी योग्यता पाई जाती है, अवसर पाकर जिनके भीतर सम्यग्दर्शनादि गुण कभी न कभी अवश्य प्रकट होनेवाले हैं, उन्हें भव्य कहते हैं। किन्तु संसारमें कुछ ऐसे भी जीव हैं, जिन्हें बाहिरी उत्तमसे उत्तम निमित्त मिलनेपर भी उनके आत्मिक गुणोंका न कभी विकास होनेवाला है और न कभी सम्यग्दर्शनादि गुण भी प्राप्त होनेवाले हैं, उन्हें अभव्य कहते हैं। अभव्य जीवोंके एकमात्र पहिला मिथ्यात्वगुणस्थान ही रहता है इससे उपर वे कभी नहीं चढ़ सकते और न कभी मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। भव्योंके सभी गुणस्थान होते हैं। सिद्धजीव भव्यत्व और अभव्यत्व भावसे रहित होते हैं। इस प्रकारसे इस मार्गणाद्वारा सर्व जीवोंका अनुमार्गण किया जाता है।

१२ सम्यक्त्वमार्गणा- तत्त्वार्थ श्रद्धानको सम्यक्त्व कहते हैं। तत्त्वार्थनाम आप्त, आगम और पदार्थका है, इसके विषयमें दृढ़श्रद्धा, रुचि या प्रतीतिको सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह व्यवहारनयकी अपेक्षा लक्षण है। निश्चयनयकी अपेक्षा अन्य समस्त परद्रव्योंसे आत्म-स्वरूपको भिन्न समझकर बहिर्मुखी दृष्टि हटाकर अन्तर्मुखी दृष्टि करके आत्माके यथार्थ स्वरूपका अनुभव कर उसमें स्थिर होनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यक्त्वके तीन भेद हैं- औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक या वेदक सम्यक्त्व। इन तीनोंका स्वरूप पहले बतला आये हैं। औपशमिक सम्यक्त्व चौथे गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थानतक पाया जाता है। क्षायोपशमिक चौथेसे सातवें गुणस्थानतक होता है और क्षायिकसम्यक्त्व चौथेसे चौदहवें गुणस्थानतकके जीवोंके तथा सिद्धोंके पाया जाता है। सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जिनका सम्यक्त्व छूट जाता है और जिनकी श्रद्धा सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनोंसे सम्मिश्रित रहती है उन्हें सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहते हैं। ऐसे जीवोंके तीसरा गुणस्थान होता है। जिनका सम्यक्त्व अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे नष्ट हो गया है, किन्तु जो अभी मिथ्यात्व गुणस्थानमें नहीं पहुँचे हैं, ऐसे जीवोंको सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं। उनके दूसरा गुणस्थान पाया जाता है। मिथ्यात्वकर्मके उदयवाले जीवोंको मिथ्यादृष्टि कहते हैं। इनके पहिला गुणस्थान होता है। इस प्रकारसे सम्यक्त्वका

आश्रय लेकर त्रैलोक्यके प्राणियोंके अन्वेषण करनेको सम्यक्त्वमार्गणा कहते हैं ।

१३ संज्ञिमार्गणा- नोइन्द्रिय- (मन-) आवरण कर्मके क्षयोपशमको या तज्जनित ज्ञानको संज्ञा कहते हैं । इस प्रकारकी संज्ञा जिनके पाई जाती है, ऐसे शिक्षा, क्रिया, आलाप (शब्द) और उपदेशको ग्रहण करनेवाले मन-सहित जीवोंको संज्ञी कहते हैं । जिनके इस प्रकारकी संज्ञा नहीं पाई जाती है, ऐसे मन-रहित जीवोंको असंज्ञी कहते हैं । एकेन्द्रियसे लेकर चतुरिन्द्रिय तकके समस्त जीव असंज्ञीही हैं । पंचेन्द्रियोंमें देव, मनुष्य और नरकगतिके समस्त जीव संज्ञीही होते हैं । तिर्यच पंचेन्द्रियों में कुछ जलचर, थलचर और नभचर जीव ऐसे होते हैं, जिनके मन नहीं होता, उन्हें भी असंज्ञी जानना चाहिए । असंज्ञी जीवोंके केवल एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है । संज्ञी जीवोंके पहिलेसे लेकर बारहवें तकके बारह गुणस्थान होता है । सयोगिकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध भगवान् को संज्ञी-असंज्ञीके नामसे अतीत या परवर्ती जानना चाहिए । इस प्रकार संज्ञा और असंज्ञाके द्वारा जीवोंके अन्वेषण करनेको संज्ञिमार्गणा कहते हैं ।

१४ आहारमार्गणा- औदारिकादि तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य नोर्कर्म-वर्गणाओंके ग्रहण करनेको आहार कहते हैं । इस प्रकारके आहार ग्रहण करनेवाले जीवोंको आहारक कहते हैं और जो इस प्रकारके आहारको ग्रहण नहीं करते हैं, उन्हें अनाहारक कहते हैं । जब जीव एक शरीरको छोड़कर अन्य शरीरको ग्रहण करनेके लिए दूसरी गतिमें जाता है, तब बीचमें यदि विग्रह (मोड़) लेकर जन्म लेना पड़े तो उसके अनाहारक दशा रहेगी । इस विग्रह गतिमें एक मोड़ लेनेपर एक समय, दो मोड़ लेनेपर दो समय और तीन मोड़ लेनेपर तीन समयतक जीव अनाहारक रहता है । तदनन्तर वह नियमसे आहारक हो जाता है । केवली भगवान् जब केवलि समुद्घात करते हैं, तब चढ़ते और उतरते प्रतर समुद्घातमें तथा लोकपूरण समुद्घातमें इस प्रकार तीन समयतक वे भी अनाहारक रहते हैं । इन उक्त प्रकारके जीवोंको छोड़कर शेष सब संसारी जीवोंको आहारक जानना चाहिए । अयोगिकेवली और सिद्ध जीवभी अनाहारक ही हैं । विग्रहगतिकी अनाहारक दशा पहिले, दूसरे और चौथे गुणस्थानमें होती है । केवली भगवान्के केवलिसमुद्घात तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें होता है । इस प्रकार आहारक-अनाहारकके रूपसे त्रैलोक्यके सर्व जीवोंके मार्गण करनेको आहारमार्गणा कहते हैं ।

१ सत्प्ररूपणाका विषय

सत्प्ररूपणा- सत् नाम अस्तित्वका है । तीन लोकमें जीवोंका अस्तित्व कहां कहां है । और किस प्रकारसे है ? इस प्रश्नका उत्तर देनाही सत्प्ररूपणाका विषय है । उक्त प्रश्नका उत्तर सत्प्ररूपणामें दो प्रकार से दिया गया है— ओघसे और आदेशसे । ओघ नाम सामान्य, संक्षेप या गुणस्थानका है और आदेश नाम विस्तार, विशेष या मार्गणा स्थानका है । उक्त प्रश्नका

उत्तर यदि संक्षेपसे दिया जाय तो यह है कि त्रिलोकवर्ती सर्व संसारी जीव चौदह गुणस्थानोंमें रहते हैं । और जो संसार-परिभ्रमणसे छूट गये हैं, ऐसे सिद्ध जीव सिद्धालयमें रहते हैं । यदि उक्त प्रश्नका उत्तर विस्तारसे दिया जाय तो यह है कि वे चौदह मार्गणा स्थानोंमें रहते हैं । प्रत्येक मार्गणा अपने अन्तर्गत उत्तर भेदोंके द्वारा और भी विस्तारसे उक्त प्रश्नका उत्तर देती है, जैसा कि ऊपर गति आदि मार्गणाओंका परिचय देते हुए बतलाया गया है ।

ग्रन्थ आरम्भ करते हुए आचार्य पुष्पदन्तने मंगलाचरणके पश्चात् जीवसमासोंके अनु-मार्गणाके लिए दो सूत्रोंके द्वारा गति आदि १४ मार्गणाएं ज्ञातव्य बतलाई हैं और उनकी प्ररूपणाके लिए सत्, संख्यादि आठ अनुयोगद्वार ज्ञातव्य कहकर उनके नामोंका निर्देश किया है । इतना कथन समस्त जीवस्थानसे सम्बन्ध रखता है । इसके पश्चात् आठवें सूत्रमें ओघ और आदेशसे निरूपणका निर्देश कर ९ वें सूत्रसे २३ वें सूत्र तक १४ गुणस्थानोंका नाम-निर्देश कर सिद्धोंका निर्देश किया गया है । जिसका भाव यह है कि यदि संक्षेपमें जीवोंके अस्तित्वकी प्ररूपणा की जाय तो यही है कि वे चौदह गुणस्थानोंमें रहते हैं और उनके अतिरिक्त सिद्ध जीव भी होते हैं । इसके पश्चात् २४ वें सूत्रसे लेकर १७७ वें सूत्र तक आदेशसे जीवोंके अस्तित्वका विस्तारसे निरूपण किया गया है । जिसका बहुत कुछ दिग्दर्शन हम मार्गणाओंके परिचयमें करा आये हैं और विशेषकी जानकारीके लिए प्रस्तुत ग्रन्थके सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वारको देखना चाहिए ।

२ संख्याप्ररूपणा अथवा द्रव्यप्रमाणानुगम

दूसरे अनुयोगद्वारका नाम संख्याप्ररूपणा या द्रव्यप्रमाणानुगम है । समस्त जीवराशि कितनी है और किस किस गुणस्थान, तथा मार्गणास्थानमें जीवोंका प्रमाण कितना कितना है, यह बात इस अनुयोगद्वारमें बतलाई गई है । जीवोंका प्रमाण द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा चार प्रकारसे बतलाया गया है । इस संख्याप्ररूपणाका स्वाध्याय करनेवालोंको द्रव्य-क्षेत्रादि प्रमाणोंका स्वरूप जान लेना अत्यावश्यक है, अन्यथा इस प्ररूपणामें वर्णित विषय समझमें नहीं आ सकता । अतः यहां संक्षेपसे उनका वर्णन किया जाता है ।

१ द्रव्यप्रमाण - मूलभूत द्रव्यकी गणना या संख्याको द्रव्यप्रमाण कहते हैं । इसके तीन भेद हैं—संख्यात, असंख्यात और अनन्त । जो प्रमाण दो, तीन, चार आदि संख्याओंसे कहा जा सके, उसे संख्यात कहते हैं । जो राशि इतनी बड़ी हो कि जिसे संख्याओंसे कहना संभव नहीं, उसे असंख्यात कहते हैं । जो राशि इससे भी बहुत बड़ी हो और जिसकी सीमाका अन्त न हो, उसे अनन्त कहते हैं । इनमेंसे संख्यात राशि हमारे इन्द्रियोंका विषय है, हम अंक-गणनाके द्वारा उसे गिन सकते हैं और शब्दोंके द्वारा उसे संज्ञा-विशेषसे कह सकते हैं । अतः वह श्रुत-ज्ञानका विषय है । किन्तु असंख्यात राशिको न हम शब्दोंके द्वारा कह ही सकते हैं और न

अंकोंके द्वारा गिन ही सकते हैं । यह राशि तो अवधिज्ञानकाही विषय है । अनन्तराशि अनन्त-प्रमाणवाले केवलज्ञानका विषय है, उसे सर्वज्ञके सिवाय और कोई नहीं जान सकता ।

इनमेंसे संख्यातके तीन भेद हैं— जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट । यद्यपि गणनाका आदि एकसे माना जाता है, तथापि वह केवल द्रव्यके अस्तित्वकाही बोधक है, भेदका सूचक नहीं । भेदकी सूचना दो से प्रारम्भ होती है, अतएव दो को संख्यातका आदि माना गया है । क्योंकि एकमें एकका भाग देनेसे अथवा एकको एकका गुणा करनेसे संख्यामें कुछ भी हानि या वृद्धि नहीं होती है । इस प्रकार जघन्य संख्यात दो है । आगे बतलाये जानेवाले जघन्य परीतासंख्यातमेंसे एक कम करनेपर उत्कृष्ट संख्यातका प्रमाण आता है । जघन्य और उत्कृष्टके मध्यमें जितनी भी संख्याएं पाई जाती हैं, उन्हें मध्यम संख्यात जानना चाहिए ।

असंख्यातके तीन भेद हैं— परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात और असंख्यातासंख्यात । ये तीनोंही जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन-तीन प्रकारके हैं । जघन्य, परीतासंख्यातका प्रमाण जाननेके लिए अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका नामवाले चार महाकुंडोंको बनाकर और उनमें सरसों भरकर निकालने और पुनः भरने आदि का जैसा विधान त्रिलोकसारमें पृ. १४ से ३५ तक बतलाया गया, उसे देखना चाहिए । आगे बतलाये जानेवाले जघन्य युक्तासंख्यातमेंसे एक अंक कम करनेपर उत्कृष्ट परीतासंख्यातका प्रमाण प्राप्त होता है । जघन्य और उत्कृष्ट परीतासंख्यातकी मध्यवर्ती सर्व संख्याको मध्यम परीतासंख्यात जानना चाहिए ।

जघन्य परीतासंख्यातके वर्गित-संवर्गित करनेसे अर्थात् उस राशिको उतने ही वार गुणित-प्रगुणित करनेसे जघन्य युक्तासंख्यातका प्रमाण प्राप्त होता है । आगे बतलाये जानेवाले जघन्य असंख्यातासंख्यातमेंसे एक अंक कम करनेपर उत्कृष्ट युक्तासंख्यातका प्रमाण प्राप्त होता है । इन दोनोंके मध्यवर्ती सर्व संख्याको मध्यम युक्तासंख्यात जानना चाहिए । जघन्य युक्तासंख्यातका वर्ग करनेपर जघन्य असंख्यातासंख्यातका प्रमाण आता है । तथा आगे बतलाये जानेवाले जघन्य परीतानन्तमेंसे एक अंक कम करनेपर उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात का प्रमाण आता है । इन दोनोंकी मध्यवर्ती संख्याको मध्यम असंख्यातासंख्यात जानना चाहिए ।

जघन्य असंख्यातासंख्यातको तीन वार वर्गित-संवर्गित करनेपर जो राशि उत्पन्न होती है, उसमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, एक जीव और लोकाकाश इन चारोंके प्रदेश, तथा अप्रतिष्ठित और सप्रतिष्ठित वनस्पतिके प्रमाणको मिलाकर उत्पन्न हुई राशिको पुनः तीन वार वर्गित-संवर्गित करना चाहिए । इस प्रकारसे प्राप्त हुई राशिमें कल्पकालके समय, स्थिति बन्धाध्यवसाय स्थानोंका और अनुभाग बन्धाध्यवसायस्थानोंका प्रमाण तथा योगके उत्कृष्ट अविभागप्रतिच्छेदोंका प्रमाण मिलाकर उसे पुनः तीन वार वर्गित-संवर्गित करनेपर जो राशि उत्पन्न होती है, वह जघन्य परीतानन्त कही

जाती है। आगे बतलाये जानेवाले जघन्य युक्तानन्तमेंसे एक कम करनेपर उत्कृष्ट परीतानन्तका प्रमाण आता है। इन दोनोंके मध्यवर्ती सब भेदोंको मध्यमपरीतानन्त जानना चाहिए।

जघन्य परीतानन्तको वर्गित-संवर्गित करनेपर जघन्य मुक्तानन्त होता है। आगे बतलाये जानेवाले जघन्य अनन्तानन्तमेंसे एक अंक कम करनेपर उत्कृष्ट युक्तानन्तका प्रमाण आता है। दोनोंके मध्यवर्ती भेदोंको मध्यम युक्तानन्त कहते हैं।

जघन्य युक्तानन्तका वर्ग करनेपर जघन्य अनन्तानन्तका प्रमाण प्राप्त होता है। इस जघन्य अनन्तानन्तको तीन बार वर्गित-संवर्गित करके उसमें सिद्धजीव, निगोदराशि, वनस्पतिराशि, पुद्गलराशि, कालके समय और अलोकाकाश इन छह राशियोंका प्रमाण मिलाकर उत्पन्न हुई महाराशिको पुनः तीन बार वर्गित-संवर्गित करके उसमें धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य-सम्बन्धी अगुरुल-लघुगुणके अविभागप्रतिच्छेद मिलाना चाहिए। इस प्रकार उत्पन्न हुई राशिको पुनः तीन बार वर्गित-संवर्गित करके उसे केवलज्ञानके प्रमाणमेंसे घटाये और फिर शेष केवलज्ञानमें उसे मिला देवे। इस प्रकार प्राप्त हुई राशिको, अर्थात् केवलज्ञानके प्रमाणको उत्कृष्ट अनन्तानन्त जानना चाहिए। जघन्य और उत्कृष्ट अनन्तानन्तकी मध्यवर्ती सर्व भेदोंको मध्यम अनन्तानन्त कहते हैं।

इस प्रकारके द्रव्य प्रमाणसे सर्व जीवराशिका गुणस्थान और मार्गणास्थानोंका आश्रय लेकर प्रमाणके जाननेको द्रव्यप्रमाण कहते हैं।

२ कालप्रमाण—जीवोंका परिमाण जाननेके लिए दूसरा माप कालका है। कालका सबसे छोटा अंश समय है। एक परमाणुको अत्यन्त मन्दगतिसे एक आकाश-प्रदेशसे दूसरे आकाश-प्रदेशमें जानेके लिए जो काल लगता है उसे समय कहते हैं। जघन्य युक्तसंख्यातप्रमाण समयोंकी एक आवली होती है। संख्यात आवलियोंका एक उच्छ्वास या प्राण होता है। सात-उच्छ्वासोंका एक स्तोक, सात स्तोकोंका एक लव और साढ़े अड़तीस लवोंकी एक नाली होती है। दो नालीका एक मुहूर्त और तीस मुहूर्तका एक अहोरात्र या दिवस होता है। वर्तमान काल-गणनाके अनुसार चौबीस घण्टोंका एक दिन-रात माना जाता है। तदनुसार उक्त काल प्रमाणकी तालिका इस प्रकार बैठती है—

अहोरात्र	=	३० मुहूर्त	=	२४ घण्टे
मुहूर्त	=	२ नाली	=	४८ मिनट
नाली	=	३८॥ लव	=	२४ मिनट
लव	=	७ स्तोक	=	३७ ७/८ सेकिण्ड
स्तोक	=	७ उच्छ्वास	=	५९ ६/८ सेकिण्ड
उच्छ्वास (प्राण)	=	संख्यात आवली	=	३८ ७/८ सेकिण्ड

आवली = असंख्यात समय =
 समय = एक परमाणुका एक आकाशके प्रदेशसे दूसरेपर मन्दगतिसे जानेका काल ।

एक स्वस्थ मनुष्यके एक वार श्वास लेने और निकालनेमें जितना समय लगता है, उसे उच्छ्वास कहते हैं । एक मुहूर्तमें इन उच्छ्वासोंकी संख्या ३७७३ कही गई है जो ऊपर बतलाये गये प्रमाण के अनुसार इस प्रकार आती है— $२ \times ३८ \frac{१}{२} \times ७ \times ७ = ३७७३$ । एक अहोरात्र (२४ घण्टे) में $३७७३ \times ३० = १,१३,१९.०$ उच्छ्वास होते हैं । इसका प्रमाण एक मिनिटमें $३ \frac{७७३}{२४} = ७८.६$ आता है, जो आधुनिक मान्यताके अनुसार ठीक बैठता है ।

एक समय कम मुहूर्तको भिन्न मुहूर्त कहते हैं । भिन्न मुहूर्तमें से भी एक समय और कम करनेपर उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्तका प्रमाण होता है । कुल आचार्योंकी मान्यताके अनुसार भिन्न मुहूर्त और अन्तर्मुहूर्त पर्यायवाची ही हैं । आवलीकालमें एक समय और जोड़ देनेपर सर्व जघन्य अन्तर्मुहूर्त होता है । इस सर्व जघन्य अन्तर्मुहूर्तके ऊपर एक एक समय बढ़ाते हुए उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्तके प्राप्त होने तक मध्यवर्ती सर्व भेद मध्यम अन्तर्मुहूर्तके जानना चाहिए ।

पन्द्रह दिनका एक पक्ष, दो पक्षका एक मास, दो मासकी एक ऋतु, तीन ऋतुओंका एक अयन, दो अयनका एक वर्ष, पांच वर्षका एक युग, चौरासी लाख वर्षका एक पूर्वांग, चौरासी-लाख पूर्वांगका एक पूर्व होता है । इससे आगे चौरासी लाख चौरासी लाखसे गुणा करते जानेपर नयुतांग-नयुत; कुमुदांग-कुमुद, पद्मांग-पद्म, नलिनांग-नलिन, कमलांग-कमल, त्रुटितांग-त्रुटित, अटटांग-अटट, अममांग-अमम, हाहांग-हाहा, झुहांग-झुहु, लतांग-लता और महालतांग-महालता आदि अनेक संख्या-राशियां उत्पन्न होती हैं जो सभी मध्यम संख्यातके ही अन्तर्गत जानना चाहिए ।

ऊपर जो पूर्वके ऊपर नयुतांग आदि संख्याएं बतलाई गई हैं, उनसे प्रकृतमें कोई सम्बन्ध नहीं है । हां, प्रस्तुत ग्रन्थमें पूर्व कोडी और कोडाकोडी आदिके नामवाली संख्याओंका अवश्य उपयोग हुआ है । एक करोड़ पूर्व वर्षोंको एक पूर्वकोटी वर्ष कहते हैं । कर्म भूमिज मनुष्य और तिर्यचोंकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटी वर्ष ही बतलाई गई है । एक कोटी प्रमाण संख्याके वर्गको कोडाकोडी कहते हैं । कोटीसे ऊपर और कोडाकोडीके नीचेकी मध्यवर्ती संख्याको अन्तःकोडाकोडी कहते हैं । इन तीन संख्याओंका और इनसे ही सम्बद्ध कोडाकोडाकोडी आदि संख्याओंका प्रस्तुत ग्रन्थमें प्रयोग देखा जाता है ।

आगे क्षेत्रप्रमाण में बतलाये जानेवाले एक महायोजन (दो हजार कोश) प्रमाण लम्बे, चौड़े और गहरे कुंडको बनाकर उसे उत्तम भोगभूमिके सात दिनके भीतर उत्पन्न हुए मेटेके ऐसे

रोमाग्रोंसे भरे जिनके और खंड कैचीसे न हो सकें। पुनः उस कुंडमेंसे एक एक रोमखंडको सौ सौ वर्षके पश्चात् निकाले। इस प्रकार उन समस्त रोम-खंडोंके निकालनेमें जितना काल लगेगा, वह व्यवहारपत्य कहलाता है। इस व्यवहारपत्यको असंख्यातकोटि वर्षोंके समयोंसे गुणित करनेपर उद्धारपत्यका प्रमाण आता है। इसके द्वारा द्वीप-समुद्रोंकी गणना की जाती है। इस उद्धारपत्यको असंख्यात कोटि वर्षोंके समयोंसे गुणित करनेपर अद्वापत्यका प्रमाण आता है। शास्त्रोंमें कर्म, भव, आयु और कायकी स्थितिका वर्णन इसी अद्वापत्यसे किया गया है। अर्थात् जहां कहीं भी 'पत्योपम' ऐसा शब्द आये तो उससे अद्वापत्य प्रमाण कालका ग्रहण करना चाहिए। इस संख्याप्ररूपणामें इसी पत्योपमका उपयोग हुआ है। दश कोड़ाकोड़ी अद्वापत्योपमोंका एक अद्वासागरोपम होता है जिसे प्रस्तुत ग्रन्थ में तथा अन्य ग्रन्थों में साधारणतः सागरोपम या सागरके नामसे उपयोग किया गया है। दशकोड़ाकोड़ी अद्वासागरोपमोंकी एक उत्सर्पिणी और इतनेही कालकी एक अवसर्पिणी होती है। इन दोनोंको मिलाकर बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपमोंका एक कल्पकाल होता है।

२ क्षेत्रप्रमाण— पुद्गलके सबसे छोटे अविभागी अंशको परमाणु कहते हैं। यह परमाणु एक प्रदेशी होनेसे इतना सूक्ष्म है कि उसका ग्रहण इन्द्रियोंसे तो क्या, बड़े से बड़े सूक्ष्म-दर्शक यन्त्रसे भी सम्भव नहीं है। वह आदि, मध्य और अन्तसे रहित है। वह अविभागी परमाणु जितने आकाशको रोकता है, उतने आकाशको एक क्षेत्रप्रदेश कहते हैं। दो या दोसे अधिक परमाणुओंके समुदायको स्कन्ध कहते हैं। अनन्तानन्त परमाणुओंके समुदायवाले स्कन्धको अवसन्नासन्न कहते हैं। आठ अवसन्नासन्नों का एक सन्नासन्न स्कन्ध, आठ सन्नासन्नोंका एक तृदरेणु, आठ तृदरेणुओंका एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणुओंका एक रथरेणु, आठ रथरेणुओंका उत्तम भोग भूमिज जीवका बालाग्र, ऐसे आठ बालाग्रोंका एक मध्यम भोगभूमिज जीवका बालाग्र, ऐसे आठ बालाग्रोंका एक जघन्यभोगभूमिज बालाग्र, ऐसे आठ बालाग्रोंका एक कर्मभूमिज जीवका बालाग्र, आठ कर्मभूमिज बालाग्रोंकी एक लिक्षा (बालोंमें उत्पन्न होनेवाली लीख) आठ लिक्षाओंका एक जू, आठ जूओंका एक यवमध्य (जौके बीचका भाग) और आठ यवमध्योंका एक अंगुल होता है। यह अंगुल तीन प्रकारका है— उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुल। आठ यवमध्योंके बराबर जो अंगुल होता है, उसे उत्सेधांगुल कहते हैं। पांच सौ उत्सेधांगुलोंका एक प्रमाणांगुल होता है। अर्थात् पांचसौ धनुषके ऊंचे शरीरवाले अवसर्पिणी कालके प्रथम चक्रवर्ती या तत्सम ऊंचे शरीरवाले यहकिये या बिदेहोंके मनुष्योंके अंगुलको प्रमाणांगुल कहते हैं। कालके परिवर्तनके साथ भरत और ऐरावत क्षेत्रमें उत्तरोत्तर हीन-हीन अवगाहनावाले मनुष्योंके अंगुलका जिस समय जितना प्रमाण होता है, उसे आत्मांगुल कहते हैं। मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारकियोंके शरीरकी अवगाहना, तथा देवोंके निवास और नगरादिका माप उत्सेधांगुलसे ही किया जाता है। द्वीप, समुद्र, पर्वत, वेदी, नदी, कुंड, क्षेत्र आदिका माप प्रमाणांगुलसे किया जाता है। विभिन्न

समयोंमें होनेवाले कलश, दर्पण, हल, मूसल, रथ, गाड़ी छत्र, चमर, सिंहासन, धनुष, बाण आदि काममें आनेवाली वस्तुओंका, तथा तात्कालिक मनुष्योंके रहनेके मकान, उद्यान, नगर प्रामादिका माप आत्मांगुलसे किया जाता है। छह अंगुलोंका एक पाद, दो पादोंकी एक विहस्ति (विलस्त या वेथिया), दो विहस्तिथोका एक हस्त (हात), दो हाथोंका एक किष्कु, दो किष्कुओंका एक दंड, युग, धनुष, नाली या मूसल होता है। दो हजार धनुषोंका एक कोश और चार कोशका एक योजन होता है।

अद्वापत्यका प्रमाण ऊपर बतला आये हैं, उस अद्वापत्यके अर्धच्छेद^१प्रमाण अद्वापत्योंका परस्पर गुणा करनेपर सूच्यंगुलका प्रमाण आता है। सूच्यंगुलके वर्गको प्रतरांगुल और घनको घनांगुल कहते हैं। अद्वापत्यके असंख्यातवें भागप्रमाण^२, अथवा मतान्तरसे^३ अद्वापत्यके जितने अर्धच्छेद हों, उसके असंख्यातवें भागप्रमाण घनांगुलोंके परस्पर गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है उसे जगच्छेणी कहते हैं। जगच्छेणीके सातवें भागको राजु या रज्जु कहते हैं। इस राजुका प्रमाण मध्यलोकके विस्तार बराबर है। जगच्छेणीके वर्गको जगत्प्रतर और घनको घनलोक कहते हैं।

ये ऊपर बतलाये गये फल्योपम, सागरोपम, सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगच्छेणी, जगत्प्रतर और घनलोक ये आठोंही उपमा प्रमाणके भेद हैं। इनका उपयोग प्रस्तुत ग्रन्थकी द्रव्य, क्षेत्र और कालकी अपेक्षासे बतलाये गये प्रमाणोंमें किया गया है।

४ भावप्रमाण— उपर्युक्त तीनों प्रकारके प्रमाणोंसे वस्तुकी वास्तविक संख्याके अधिगम अर्थात् जाननेको ही भावप्रमाण कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जहां जिस गुणस्थान और मार्गणास्थानका द्रव्य, काल वा क्षेत्रकी अपेक्षासे जो प्रमाण बतलाया गया है, वहां उस प्रमाणके यथार्थ जाननेको ही भावप्रमाण समझना चाहिए।

संख्या प्ररूपणमें जीवोंकी संख्याका निरूपण पहिले गुणस्थानोंकी अपेक्षा और पीछे मार्गणास्थानोंकी अपेक्षा किया गया है। सूत्रकारने पहिले पृच्छा सूत्रद्वारा प्रश्न उठाकर उत्तर सूत्रके द्वारा संख्याका निर्देश किया है। यथा— ' मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्यप्रमाणसे कितने है ? ' उत्तर दिया— ' अनन्त हैं । ' अब यहां शंका होती है कि अनन्तके तो स्थूल रीतिसे अनेक भेद हैं और सूक्ष्म दृष्टिसे अनन्त भेद हैं। यहांपर अनन्तसे कितने प्रमाणवाली राशिका ग्रहण किया जाय ? इस शंकाका समाधान आचार्यने काल प्रमाणका आश्रय लेकर किया कि अतीत कालमें जितनी अनन्ती उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ब्रीत चुकी हैं, उनके समयोंका जितना प्रमाण है, उससे भी

१. किसी भी विवक्षित राशिके आधे आधे भाग करनेपर एककी संख्याप्राप्त होने तक जितने टुकड़े या भाग होते हैं, उन्हें अर्धच्छेद कहते हैं। २. देखो राजवातिक अ. ३. सू. ३८ की टीका। ३. देखो त्रिलोकप्रज्ञप्ति अ. १, गा. १३१।

मिथ्यादृष्टि जीव अपहृत नहीं होते , अर्थात् उससे अधिक हैं । यहां अपहृतका अभिप्राय ऐसा समझना चाहिए कि एक ओर मिथ्यादृष्टि जीवोंकी राशिको रखा जाय और दूसरी ओर भूतकालमें जितनी अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी बीत गई हैं, उनके समयोंका ढेर रखा जावे । पुनः मिथ्यादृष्टि जीवराशिमेंसे एक जीव और अतीत कालके समयोंमेंसे एक समयको साथ साथ निकालकर कम करे । इस प्रकार उत्तरोत्तर कम कम करते हुए अतीत कालके समस्त समय तो समाप्त हो जाते हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि जीवराशि समाप्त नहीं होती है । यदि इतनेपर भी जिज्ञासुकी जिज्ञासा उसके और भी स्पष्ट रूपसे प्रमाण जाननेकी बनी रही तो उसके स्पष्टीकरणके लिए आचार्यने क्षेत्र-प्ररूपणाका आश्रय लेकर उत्तर दिया कि अनन्तानन्त लोकोंके जितने आकाशप्रदेश हैं, उतने मिथ्यादृष्टि जीव हैं । इस प्रकार द्रव्य, काल और क्षेत्र प्रमाणोंके द्वारा मिथ्यादृष्टि जीवोंकी यथार्थ संख्याको जाननेका ही नाम भावप्रमाण है ।

दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवें गुणस्थानवर्ती जीवोंका प्रमाण यद्यपि सामान्यसे पल्योपमके असंख्यातवे भाग बतलाया है, तथापि उनके प्रमाणमें हीनाधिकता है । तदनुसार पांचवें गुणस्थानवाले जीवोंकी जितनी संख्या है, उससे दूसरे गुणस्थानवाले जीव अधिक हैं, उनसे तीसरे गुणस्थानवाले जीव अधिक हैं और उससे भी चौथे गुणस्थानवाले जीव अधिक हैं । छठे गुणस्थानवाले जीवोंका प्रमाण सूत्रकारने यद्यपि कोटिपृथक्त्व कहा है, पर ध्वलाकारने गुरुपरंपराके उपदेशानुसार पांच करोड़ तेरानवै लाख अठानवै हजार दो सौ छह (५९३९८२०६) बतलाया है । सातवें गुणस्थानका प्रमाण सूत्रकारने यद्यपि संख्यात ही बतलाया है, तथापि ध्वलाकारने उसका अर्थ कोटि पृथक्त्वसे नीचकी ही राशिको ग्रहण करनेका व्यक्त किया है और गुरुपदेशके अनुसार दो करोड़ छयानवै लाख निन्यानवै हजार एक सौ तीन (२९६९९१०३) बतलाया है । अर्थात् यतः छठे गुणस्थानसे सातवें गुणस्थानका काल आधा है, अतः उसके जीवोंकी संख्या भी छठेकी अपेक्षा आधी है । इससे ऊपर उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणीमें जीवोंकी संख्या सूत्रकारने प्रवेशकी अपेक्षा एक, दो, तीन को आदि लेकर क्रमशः ५४ और १०८ बतलाई गई है और दोनों श्रेणियोंके कालकी अपेक्षा प्रत्येक गुणस्थानमें संख्यात बतलाई है, तथापि ध्वलाकारने बहुत से आचार्योंके मतोंका उल्लेखकर सबसे अन्तमें दी हुई गाथाके मतको प्रधानता देकर उपशम श्रेणीके प्रत्येक गुणस्थानमें संचित जीवोंकी संख्या २९९ और क्षपक श्रेणीके प्रत्येक गुणस्थानमें संचित जीवोंकी संख्या ५८८ बतलाई है । तदनुसार उपशम और क्षपकश्रेणी-सम्बन्धी आठवें, नववें और दशवें गुणस्थानमें प्रत्येककी जीवसंख्या ८९७ - ८९७ जानना चाहिए । ग्यारहवेंकी जीवसंख्या २९९ और बारहवें गुणस्थानकी जीवसंख्या ५९८ बतलाई गई है । तेरहवें गुणस्थानमें प्रवेशकी अपेक्षा एक, दो, तीनको आदि लेकर एक सौ आठ बतलाई गई है और तेरहवें गुणस्थानमें संचित होनेवाले सर्व सयोगिकेवली जिनोंका प्रमाण सूत्रकारने शतसहस्रपृथक्त्व बतलाया है, जिसका अर्थ

धवलाकारनें विभिन्न मान्यताओके अनुसार विभिन्न संख्याओंका उल्लेख करते अन्तमें आचार्य-परम्परासे प्राप्त उपदेशके अनुसार आठ लाख अठ्ठानवें हजार पांच सौ दो (८९८५०२) बतलाया है । चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीवोंका प्रमाण प्रवेशकी अपेक्षा एक, दो, तीनको आदि लेकर एक सौ आठ (१०८) और संचय कालकी अपेक्षा पांच सौ अठ्ठानवें (५९८) बतलाया है ।

संक्षेपमें गुणस्थानोंकी सर्व जीवराशिका अल्पबहुत्वके रूपसे उपसंहार इस प्रकार जानना चाहिए— म्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीवसे सबसे थोड़े (संख्यात) हैं । उनसे बारहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव संख्यातगुणित अर्थात् दूने हैं । उनसे दोनोंहि श्रेणियोंके आठवें, नववें और दशवें गुणस्थानवर्ती जीव परस्परमें समान होते हुए भी विशेष अधिक है । उनसे तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव संख्यातगुणित हैं । उनसे सातवें गुणस्थानवर्ती जीव संख्यातगुणित हैं । उनसे छठे गुणस्थानवर्ती जीव संख्यातगुणित अर्थात् दूने हैं । छठे गुणस्थानवर्ती जीवोंसे पांचवें गुणस्थानवाले जीव असंख्यातगुणित हैं । उनसे दूसरे गुणस्थानवाले जीव असंख्यातगुणित हैं । उनसे तीसरे गुणस्थानवाले जीव संख्यात गुणित हैं और उनसे चौथे गुणस्थानवाले जीव असंख्यात गुणित हैं । उनसे सिद्धजीव अनन्तगुणित हैं और सिद्धोंसे मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तगुणित हैं । मिथ्यादृष्टि जीवोंसे सर्व जीवराशि कुछ अधिक हैं ।

ओघसे अर्थात् गुणस्थानोंकी अपेक्षा जीवोंकी संख्याका निरूपण करनेके बाद सूत्रकारने आदेश अर्थात् चौदह मार्गणास्थानोंकी अपेक्षा जीवोंकी संख्याका निरूपण किया है । मार्गणास्थानोंकी संख्याभी द्रव्य, काल और क्षेत्रकी अपेक्षा बतलाई गई है, सो ऊपर जिस प्रकार काल और क्षेत्र प्रमाणका निरूपण किया गया है, तदनुसारही मार्गणाओंमें बतलाई गई संख्याका यथार्थ अर्थ समझ लेना चाहिए । सूत्रमें जहां पदर या प्रतर शब्द आया हो, वहां उससे जगत्प्रतरका, अंगुल शब्दसे सूच्यंगुलका, सेठी या श्रेणी शब्दसे जगच्छ्रेणीका और लोक शब्दसे घनलोकका अर्थ लेना चाहिए । इसके अतिरिक्त सूत्रोंमें कुछ और भी विशेष संज्ञाएं आई हैं उनका अर्थ इस प्रकार जानना चाहिए—

आयाम— किसी क्षेत्रकी लम्बाई ।

विष्कम्भ— किसी क्षेत्रकी चौड़ाई ।

विष्कम्भसूची— किसी गोलाकार क्षेत्रके मध्यकी चौड़ाई ।

वर्ग— किसी विवक्षित संख्याको उसी संख्यासे गुणित करना । जैसे ४ को ४ से गुणित करनेपर १६ राशि प्राप्त होती है, यह ४ का वर्ग है ।

वर्गमूल— वर्ग करनेकी मूल राशि । जैसे १६ का वर्गमूल ४ है ।

घन— किसी राशिको उसीसे दो बार गुणा करनेपर जो राशि प्राप्त हो । जैसे ४ का घन (४ × ४ × ४ =) ६४ है ।

घनमूल— जिस राशिके गुणाकारसे घनराशि उत्पन्न हुई है, उसकी मूलराशि । जैसे ६४ का घनमूल ४ है ।

सातिरेक— विवक्षित राशिसे कुछ अधिक, इसेही साधिक कहते हैं ।

विशेषाधिक— विवक्षित राशिके दूने परिमाणसे नीचेतक की सर्व राशियां ।

संख्यातगुणित— दूनी राशि और उससे ऊपर तिगुनी, चौगुनी आदि वे सब राशियां जो संख्यातके अन्तर्गत होती हैं ।

असंख्यातगुणित— यथासंभव मध्यम असंख्यातसे गुणित राशि लेना ।

अनन्तगुणित— यथासंभव मध्यम अनन्तसे गुणित राशि ।

द्वितीय वर्गमूल— विवक्षित राशिका दूसरा वर्गमूल । जैसे— १६ का प्रथम वर्गमूल ४ है और दूसरा वर्गमूल २ है । इसी प्रकार तृतीय, चतुर्थ आदि वर्गमूलोंको समझना चाहिए ।

भागहार— जिस राशिसे विवक्षित राशिमें भाग दिया जावे ।

अवहारकाल— भागहाररूप कालात्मकराशि ।

द्रव्यप्रमाणानुगममें मार्गणाओंके भीतर जीवोंकी जो संख्या बतलाई गई है, उसके अनुसार अनन्त, असंख्यात और संख्यात राशिवाले जीवोंका अल्पबहुत्व इस प्रकार जानना चाहिए—

अनन्त राशिवाले जीव— १ अभव्य, २ सिद्ध, ३ मान कषायी, ४ क्रोध कषायी, ५ माया कषायी, ६ लोभ कषायी, ७ कापोत लेश्यावाले, ८ नील लेश्यावाले, ९ कृष्ण लेश्यावाले, १० अनाहारक, ११ आहारक, १२ भव्य, १३ वनस्पति कायिक, १४ एकेन्द्रिय, १५ काययोगी, १६ असंज्ञी, १७ तिर्यंच, १८ नपुंसकवेदी, १९ मिथ्यादृष्टि, २० कुमति ज्ञानी, २१ कुश्रुतज्ञानी, २२ अचक्षुदर्शनी, २३ असंयमी ।

असंख्यात राशिवाले जीव— १ देशसंयत, २ सासादन सम्यग्दृष्टि, ३ सम्यग्मिथ्यादृष्टि, ४ औपशमिक सम्यक्त्वी, ५ क्षायिक सम्यक्त्वी, ६ क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी, ७ शुक्लेश्यिक, ८ अवधि दर्शनी, ९ अवधिज्ञानी, १० मतिज्ञानी, ११ श्रुतज्ञानी, १२ पद्मलेश्यिक, १३ पीतलेश्यिक, १४ मनुष्य, १५ पुंवेदी, १६ नारकी, १७ स्त्रीवेदी, १८ देव, १९ विभंग ज्ञानी, २० मनोयोगी, २१ संज्ञी, २२ पंचेन्द्रिय, २३ चक्षुदर्शनी, २४ चतुरिन्द्रिय, २५ त्रीन्द्रिय, २६ द्वीन्द्रिय, २७ वचनयोगी, २८ त्रसजीव, २९ तेजस्कायिक, ३० पृथ्वीकायिक, ३१ जलकायिक, ३२ वायु कायिक ।

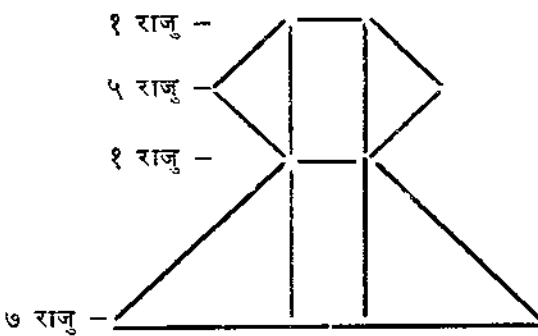
संख्यात राशिवाले जीव— १ सूक्ष्मसाम्परायसंयमी, २ मनःपर्ययज्ञानी, ३ परिहारसंयमी, ४ क्षेत्रज्ञानी, ५ केवलदर्शनी, ६ यथाख्यातसंयमी, ७ सामायिकसंयमी, ८ छेदोपस्थापनासंयमी ।

अनन्तराशिवालोंमें अभव्य जीव सबसे कम हैं और आगे आगे की राशिवाले जीव उत्तरोत्तर अधिक हैं। असंख्यातसंख्यावालों में देशसंयत जीव सबसे कम हैं और आगेकीराशियां उत्तरोत्तर अधिक हैं। संख्यातराशिवाले जीवोंमें सूक्ष्मसाम्परायसंयमी सबसे कम हैं, और आगेकी राशिवाले जीव उत्तरोत्तर अधिक हैं। इसप्रकार द्रव्यप्रमाणानुगमके द्वारा जीवोंकी संख्याका भलीभांति ज्ञान हो जाता है।

३ क्षेत्रप्ररूपणा

सत्प्ररूपणाके द्वारा जिनका अस्तित्व जाना और संख्याप्ररूपणाके द्वारा जिनकी संख्याको जाना है, ऐसे वे अनन्तानन्त जीव कहां रहते हैं, यह शंका स्वभावतः उठती है और उसीके समाधानके लिए आचार्यने तत्पश्चात्ही क्षेत्रकी प्ररूपणा की। जीवोंके वर्तमानकालिक निवासको क्षेत्र कहते हैं। यह क्षेत्र कहां है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि हम जहांपर रहते हैं, इसके सर्वओर अर्थात् दशों दिशाओं अनन्त आकाश फैला हुआ है, उसके ठीक मध्य भागमें लोकाकाश है, जिसमें अनन्तानन्त जीव तथा अनन्तानन्त पुद्गलादि अन्य द्रव्य रहते हैं। द्रव्योंके रहने और नहीं रहनेके कारण ही एक आकाशके दो विभाग हो जाते हैं। जितने आकाशमें जीवादि द्रव्य पाये जाते हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं और उससे परे दशों दिशाओंमें अनन्त आकाश है, उसे अलोकाकाश कहते हैं। इस अलोकाकाशमें एक मात्र आकाशको छोड़कर और कोई द्रव्य नहीं पाया जाता।

लोकाकाशका आकार उत्तरकी ओर मुख करके खड़े हुए उस पुरुषके समान है जो अपने दोनों पैरोंको फैलाकर और कमरपर हाथ रख करके खड़ा है। इस आकारवाले लोकके



स्वभावतः तीन भाग हो जाते हैं— कमरसे नीचेके भागको अधोलोक कहते हैं, कमरसे ऊपरके भागको ऊर्ध्वलोक कहते हैं और कमरवाले बीचके भागको मध्यलोक कहते हैं। मध्यलोकसे नीचे जो अधोलोक है, उसकी ऊंचाई सात राजु है। सबसे नीचे उसकी चौड़ाई सात राजु है। ऊपर क्रमसे घटते हुए मध्यलोकमें चौड़ाई एक राजु रह जाती है। मध्यलोकसे ऊपर जो ऊर्ध्वलोक है

उसकी ऊंचाई सात राजु है। किन्तु चौड़ाई सबसे नीचे अर्थात् मध्यलोकमें एक राजु है। फिर क्रमसे बढ़ती हुई वह हाथकी कोहनियोंके पास— जहांकि ब्रह्मलोक है— पांच राजु हो जाती है। पुनः क्रमसे घटती हुई वह सबसे ऊपर— जहां सिद्धलोक है— एक राजु रह जाती है। यह उतार-चढ़ाववाला विस्तार पूर्व और पश्चिम दिशाके क्षेत्रका है। उत्तर-दक्षिण दिशामें लोकका विस्तार

नीचेसे लेकर ऊपरतक सर्वत्र सात राजु ही है ।

इस चौदह राजुकी ऊंचाईवाले लोकके ठीक मध्यभागमें एक राजु लम्बी, एक राजु चौड़ी और चौदह राजु ऊंची एक लोक नाडी है, जिसे त्रस जीवोंका निवास होनेके कारण त्रसनाडी भी कहते हैं । अधोलोकमें इसी त्रसनाडीके भीतर सात नरक है, जहांपर नारकी जीव रहते हैं । मध्यलोकमें इसी त्रसनाडीके भीतर असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं जो परस्परमें एक दूसरेको घेरकर अवस्थित हैं । उन सबके बीचमें जम्बू द्वीप है, जो एक लाख योजन विस्तारवाला है । इसके ठीक मध्यभागमें सुमेरु पर्वत है, जो एक लाख योजन ऊंचा है । इस सुमेरुके तलसे लेकर नीचेके सर्व लोकको अधोलोक कहते हैं । और सुमेरुकी चूलिकासे ऊपरके लोकको ऊर्ध्व लोक कहते हैं । इस ऊर्ध्व लोकमें ही सोलह स्वर्ग, नौप्रैवेयक, नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर हैं, जिनमें देव रहते हैं । वस्तुतः सुमेरु ही तीनों लोकोंका विभाजन करता है । एक राजु विस्तारवाला और एक लाख योजनकी ऊंचाईवाले क्षेत्रको मध्यलोक कहते हैं । यतः इस मध्यमें ही मनुष्य और तीर्यच जीव रहते हैं, अतः इसका दूसरा नाम नर-तिर्यग्लोक भी है । जम्बू द्वीपको घेर कर उसके चारों ओर दो लाख योजन चौड़ा लवण समुद्र है । उसे चारों ओरसे घेरे हुए चार लाख योजन चौड़ा धातकीखंड द्वीप है । उसे चारों ओरसे घेरे हुए आठ लाख योजन चौड़ा कालोदधि समुद्र है । उसे चारों ओरसे घेरे हुए सोलह लाख योजन चौड़ा पुष्करवर द्वीप है । इस द्वीपके ठीक मध्यभागमें मानुषोत्तर पर्वत है । इस पर्वतसे आगे न कोई मनुष्य रहता ही है और न जा ही सकता है, इस कारण इसका नाम मानुषोत्तर पड़ा है । इस प्रकार एक जम्बू द्वीप, दूसरा धातकीखंड द्वीप और आधा पुष्करवर द्वीप इन अढ़ाई द्वीपवाले क्षेत्रको मनुष्य लोक कहते हैं । इसकी चौड़ाई मध्यभागमें सूची व्यासकी अपेक्षा पैतालीस लाख योजन है । इससे आगे के जितने भी असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं, उन सबके अन्तमें स्वयम्भूरमण समुद्र है । मध्यलोककी समाप्ति इसीके साथ हो जाती है । इन असंख्यात द्वीप और समुद्रोंमें एक मात्र तिर्यच जीवोंके पाये जानेसे उसे तिर्यग्लोक भी कहा जाता है । मनुष्य लोकका घनफल पैतालीस लाख योजन है । तिर्यग्लोकका घनफल घनात्मक एक राजु है, यही मध्यलोकका भी घनफल है । अधोलोकका घनफल १९६ घनराजु है, और ऊर्ध्व लोकका घनफल १४७ घनराजु है । सम्पूर्ण लोकाकाशका घनफल (१९६+१४७=३४३) तीन सौ तेतालीस घनराजु है ।

लोकके विभागकी इतनी सामान्य व्यवस्था जान लेनेके पश्चात् यह बात तो सामान्य-रूपसे समझमें आ जाती है कि नारकी अधोलोकमें, देव ऊर्ध्व लोकमें और मनुष्य-तीर्यच मध्य-लोकमें रहते हैं । परन्तु चौदह गुणस्थानों और मार्गणा स्थानोंकी अपेक्षा किस जातिके जीव लोकाकाशके कितने क्षेत्रमें रहते हैं ? इसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थके प्रथम जीवस्थान खंडकी क्षेत्र प्ररूपणामें किया गया है, जिसे पाठक उसका स्वाध्याय करते हुए जान सकेंगे । यहां

संक्षेपमें इतना जान लेना आवश्यक है कि किसीभी गतिका कोईभी छोटा या बड़ा एक जीव लोकाकाशके असंख्यातवें भागमेंही रहता है। किन्तु जब सामान्यसे पहिले गुणस्थानको लक्ष्यमें रख कर पूछा जायगा कि मिथ्यादृष्टि जीव कितने क्षेत्रमें रहते हैं ? तो इसका उत्तर होगा— सर्व लोकमें रहते हैं; क्योंकि ३४३ राजु घनाकार यह लोकाकाश स्थावर जीवोंसे ठसाठस भरा हुआ है। हालांकि त्रस जीव कुछ अपवादोंको छोड़कर त्रस नाडीके भीतर ही रहते हैं। दूसरे गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तकके जीव लोकके असंख्यातवें भागमें ही रहते हैं। केवल केवलि समुद्घातको प्राप्त सयोगिकेवलिजिन दंड और कपाट समुद्घातकी अवस्थामें लोकके असंख्यातवें भागमें, प्रतर समुद्घातके समय लोकके असंख्यात बहुभागोंमें और लोकपूरणसमुद्घातके समय सर्व लोकमें रहते हैं।

मार्गणाओंकी अपेक्षा किस मार्गणाका कौनसा जीव कितने क्षेत्रमें रहता है, इसका विस्तृत विवेचन इस प्ररूपणामें किया गया है। संक्षेपमें इतना जान लेना चाहिए कि जिस मार्गणामें अनन्त संख्यावाली एकेन्द्रिय जीवोंकी राशि आती हो, उस मार्गणावाले जीव सर्वलोकमें रहते हैं, और शेष मार्गणावाले लोकके असंख्यातवें भागमें रहते हैं। केवलज्ञान, केवलदर्शन, यथाख्यातसंयम आदि जिन मार्गणाओंमें सयोगि जिन आते हैं, वे साधारण दशामें तो लोकके असंख्यातवें भागमें रहते हैं, किन्तु प्रतर समुद्घातकी दशामें लोकके असंख्यात बहुभागोंमें, तथा लोकपूरणसमुद्घातकी दशामें सर्व लोकमें रहते हैं। वादर वायुकायिक जीव लोकके संख्यातवें भागमें रहते हैं।

४ स्पर्शनप्ररूपणा

क्षेत्रप्ररूपणामें जीवोंके वर्तमानकालिक क्षेत्रका निरूपण किया गया है, किन्तु स्पर्शन प्ररूपणामें वर्तमान कालके साथ अतीत और अनागतकालके क्षेत्रका विचार किया जाता है। जीव जिस स्थानपर उत्पन्न होता है, या रहता है, वह उसका स्वस्थान कहलाता है और उस शरीरके द्वारा जहां तक वह आता-जाता है, वह विहारवत्स्वस्थान कहलाता है। प्रत्येक जीवका स्वस्थान की अपेक्षा विहारवत्स्वस्थानका क्षेत्र अधिक होता है। जैसे सोलहवें स्वर्गके किसी भी देवका क्षेत्र स्वस्थानकी अपेक्षा तो लोकका असंख्यातवां भाग है। किन्तु वह विहार करता हुआ नीचे तीसरे नरक तक जा आ सकता है, अतः उसके द्वारा स्पर्श किया हुआ क्षेत्र आठ राजु लम्बा हो जाता है। इसका कारण यह है कि मध्य लोकसे नीचे तीसरा नरक दो राजुपर है और ऊपर सोलहवां स्वर्ग छह राजुकी ऊंचाईपर है। इस प्रकार छह और दो राजु मिलकर आठ राजुकी लम्बाईवाले क्षेत्रका भूतकालमें सोलहवें स्वर्गके देवोंने स्पर्श किया है। विहारके समान समुद्घात और उपपादकी अपेक्षा भी जीवोंका क्षेत्र बढ जाता है। वेदना, कषाय आदि किसी निमित्तविशेषसे जीवके प्रदेशोंका मूल शरीरके साथ सम्बन्ध रहते हुए भी बाहिर फेलना समुद्घात कहलाता है।

समुद्घातके सात भेद हैं— वेदना समुद्घात, २ कषायसमुद्घात, ३ वैक्रियिक समुद्घात, ४ आहारक समुद्घात, ५ तैजस समुद्घात, ६ मारणान्तिक समुद्घात और ७ केवलि समुद्घात । शरीरमें रोगादिकी वेदनाके कारण जीवके प्रदेशोंका बाहिर निकलना वेदना समुद्घात है । क्रोधादि कषायोंके कारण जीवके प्रदेशोंका बाहिर निकलना कषायसमुद्घात है । देवादिकोंका मूल शरीरके अतिरिक्त अन्य शरीर बनाकर उत्तर शरीररूप विक्रिया कालमें आत्म-प्रदेशोंका मूल शरीरसे बाहिर फैलना वैक्रियिक समुद्घात है । प्रमत्त संयत साधुके शंका-समाधानार्थ जो आहारक पुतलाके रूपमें आत्म-प्रदेश बाहिर निकलते हैं, उसे आहारक समुद्घात कहते हैं । साधुके निग्रह या अनुग्रहका भाव जागृत होनेपर जो शुभ या अशुभ तैजस पुतलाके रूपमें आत्म-प्रदेश बाहिर निकलते हैं, उसे तैजस समुद्घात कहते हैं । मरण-कालके अन्तर्मुहूर्त पूर्व जिस जीवके आत्म-प्रदेश निकलकर जहां आगे जन्म लेना है, वहां तक फैलते हुए चले जाते हैं और उस स्थानका स्पर्श करके वापिस लौट आते हैं, इस प्रकारके समुद्घातको मारणान्तिकसमुद्घात कहते हैं । केवली भगवान्के आत्म-प्रदेशोंका शेष अघातिया कर्मोंकी निर्जराके निमित्त दंड, कपाट, प्रतर और लोकपूरणके रूपमें त्रैलोक्यमें फैलना केवलि समुद्घात कहलाता है । इन सात समुद्घातोंकी दशामें जीवका क्षेत्र शरीरकी अवगाहनाके क्षेत्रसे अधिक हो जाता है । इसके अतिरिक्त उपपाद कालमें भी जीवोंके प्रदेशोंका शरीरसे बाहिर प्रसार देखा जाता है । जीवका अपनी पूर्व पर्यायको छोड़कर अन्य पर्यायमें जन्म लेनेको उपपाद कहते हैं । इस प्रकार १ स्वस्थानस्वस्थान, २ विहारवत्स्वस्थान, ३ वेदना, ४ कषाय, ५ वैक्रियिक, ६ आहारक, ७ तैजस, ८ मारणान्तिक, ९ केवलि समुद्घात और १० उपपाद । इन दश अवस्थाओंकी अपेक्षा करके किस गुणस्थानवाले और किस मार्गणावाले जीवोंने भूतकालमें कितने क्षेत्रका स्पर्श किया है, यह विवेचन इस स्पर्शन प्ररूपणामें विस्तारसे किया गया है । फिर भी यहांपर उसका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है ।

मिथ्यादृष्टि जीव तो सर्व लोकमें रहते ही हैं, अतः उनका स्वस्थानगत क्षेत्र ही सर्व लोक है । उसीको उन्होंने विहारवत्स्वस्थान आदि जो पद इस गुणस्थानमें संभव हैं, उनकी अपेक्षा भी सर्व लोकका स्पर्श भूतकालमें भी किया है और भविष्यकालमें भी करेंगे ।

यहां इतना विशेष ज्ञातव्य है कि आहारक समुद्घात और तैजस समुद्घात छठे गुणस्थानवर्ती साधुके ही होते हैं; अन्यके नहीं । केवलि समुद्घात तेरहवें गुणस्थानमें ही संभव है, अन्यत्र नहीं । वैक्रियिक समुद्घात प्रारंभके चार गुणस्थानवर्ती देव, नारकी, या ऋद्धिप्राप्त साधुओंके होता है । भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यंचोंके भी अपृथक् विक्रियारूप समुद्घात होता है । वेदना, कषाय और मारणान्तिक समुद्घात चारोंही गतिवाले जीवोंके उनमें संभव पहिले, दूसरे और चौथे आदि गुणस्थानोंमें होता है ।

दूसरे गुणस्थानवर्ती सासादनसम्यग्दृष्टि जीव वर्तमान काल में तो लोकके असंख्यातवें भागमें ही रहते हैं। किंतु भूतकाल में उन्होंने कुछ कम आठ बटे चौदह ($\frac{1}{4}$) राजु और कुछ कम बारह बटे चौदह [$\frac{1}{4}$] राजुप्रमाण क्षेत्रका स्पर्शन किया है। इसका अभिप्राय यह है विहारवत्त्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिकसमुद्घात इन चार पदोंकी अपेक्षा सासादन-सम्यग्दृष्टि जीवोंने पूर्वमें बतलाई हुई त्रसनाड़ी के चौदह भागोंमेंसे आठ भागोंका स्पर्श किया है, अर्थात् आठ घनराजुप्रमाण त्रसनाड़ी के भीतर ऐसा एक भी प्रदेश नहीं है जिसे कि भूतकाल में चारों गतियों के सासादनसम्यग्दृष्टियोंने स्पर्शन किया हो। यह आठ घनराजुप्रमाण क्षेत्र त्रसनाड़ी के भीतर जहां कहीं नहीं लेना चाहिए, किंतु नीचे तीसरे नरकसे लेकर ऊपर सोलहवें स्वर्गतक का लेना चाहिए। इसका कारण यह है कि भवनवासी देव स्वयं तो नीचे तीसरे नरक तक जाते-आते हैं और ऊपर पहले स्वर्ग के शिखर ध्वजदंड तक। किंतु ऊपर के स्वर्गवाले देवों के प्रयोग से सोलहवें स्वर्ग तक भी विहार कर सकते हैं। उनके इतने क्षेत्र में विहार करनेके कारण उस क्षेत्रका ऐसा एक भी आकाश-प्रदेश नहीं बचा है, जिसका कि दूसरे गुणस्थानवाले उक्त देवोंने अपने शरीर द्वारा स्पर्श न किया हो। इस प्रकार इस स्पर्श किये गये क्षेत्र को लोकनाड़ी के चौदह भागोंमेंसे आठ भाग प्रमाण स्पर्शन क्षेत्र कहते हैं। इस क्षेत्रको कुछ कम कहनेका कारण यह है कि वे भवनवासी देव तीसरे नरक में वहां तक ही जाते हैं, जहां तक कि नारकी रहते हैं। किंतु मध्यलोक से तीसरी पृथ्वी का तलभाग दो राजु नीचा है। इस पृथ्वी का तलभाग एक हजार योजन मोटा है, ठोस है। उसमें नारकी नहीं पाये जाते, किंतु उसके ऊपर ही रहते हैं। अतः विहार करनेवाले देव तीसरी पृथ्वी के तलभाग तक नहीं जाते हैं, किंतु उपरिम भागतक ही जाते हैं। इस एक हजार योजनको कम करने के लिए ही कुछ कम (देशोन) पदका प्रयोग यहां किया गया है। इसी प्रकार जहां कहीं भी देशोन पदका प्रयोग किया गया हो, वहां पर सर्वत्र यथा संभव इसी प्रकार का अर्थ लेना चाहिए। मारणान्तिक समुद्घात की अपेक्षा सासादन गुणस्थानवर्ती जीवों ने लोकनाली के चौदह भागोंमें से बारह भाग का भूतकाल में स्पर्श किया है। इसका अभिप्राय यह है कि छठी पृथ्वी के सासादन गुणस्थानवाले नारकी यतः मध्य लोक में उत्पन्न होते हैं, अतः यहां तक मारणान्तिक समुद्घात करते हैं। तथा इसी गुणस्थानवाले भवनवासी आदि देव ऊपर लोक के अन्त में अवस्थित आठवीं पृथ्वी के पृथिवीकायिक जीवों में मारणान्तिक समुद्घात करते हैं। इस प्रकार सुमेरु तल से नीचे छठी पृथिवी तक के पांच राजु, और ऊपर लोकान्त तक के सात राजु ये दोनों मिलकर बारह राजु हो जाते हैं। इस कुछ कम बारह घनराजु प्रमाण क्षेत्र का दूसरे गुणस्थानवाले जीवों ने अतीत काल में स्पर्शन किया है और आगे भी करेंगे, इस अपेक्षा उनका उक्त प्रमाण स्पर्शन क्षेत्र कहा गया है। यहांपर भी कुछ कम का अर्थ बतलाये गये प्रकार से लेना चाहिए।

इस प्रकार इस स्पर्शन प्ररूपणा में चौदह गुणस्थानों और चौदह मार्गणास्थानोंवाले जीवों का उपर्युक्त खस्थानादि दश पदों की अपेक्षा अतीत काल में स्पर्शन किये हुए क्षेत्र का निरूपण किया गया है ।

५ कालप्ररूपणा

किस गुणस्थान और किस मार्गणास्थानमें जीव कमसे कम कितने काल तक रहते हैं और अधिकसे अधिक काल तक रहते हैं, इसका विवेचन, कालानुगम नामके अनुयोगद्वारमें किया गया है । सूत्रकारने कालका यह विवेचन एक जीव और नाना जीवोंकी अपेक्षासे किया है । यथा—मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्वगुणस्थानमें कितने काल तक रहते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है कि नाना जीवोंकी अपेक्षा तो मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व गुणस्थानमें सदा ही रहते हैं, अर्थात् तीनों कालों में ऐसा एक भी समय नहीं है, जब कि मिथ्यादृष्टि जीव न पाये जाते हों । किन्तु एक जीवकी अपेक्षा मिथ्यात्वका काल तीन प्रकारका है—अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त । अभव्य जीवोंके मिथ्यात्वका काल अनादि-अनन्त जानना चाहिए । क्योंकि उनके मिथ्यात्वका न आदि है और न अन्त । जो अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीव हैं, उनके मिथ्यात्वका काल अनादि-सान्त है; अर्थात् अनादि कालसे आज तक सम्यक्त्वकी प्राप्ति न होनेसे उनका मिथ्यात्व अनादि है, किन्तु आगे जाकर सम्यक्त्वकी प्राप्ति और मिथ्यात्वका अन्त होनेसे उनका मिथ्यात्व सान्त है । जिन जीवोंने एक बार सम्यक्त्वको प्राप्त कर लिया, तथापि परिणामोंके संकेशादि निमित्तसे जो फिर भी मिथ्यात्वको प्राप्त हो जाते हैं, उनके मिथ्यात्वका काल सादि-सान्त जानना चाहिए । सूत्रकारने इन तीनों प्रकारके मिथ्यात्व-कालोंका निर्देश करके एक जीवकी अपेक्षा मिथ्यात्वका जघन्य सादि-सान्त काल अन्तर्मुहूर्त बतलाया है, जिसका अभिप्राय यह है कि यदि कोई असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, या प्रमत्तसंयत जीव परिणामोंके पतनसे मिथ्यात्वको प्राप्त हो और मिथ्यात्व दशामें सबसे छोटे अन्तर्मुहूर्त काल रहकर पुनः असंयत सम्यग्दृष्टि, या संयतासंयत, या अप्रमत्तसंयत हो जाय; तो ऐसे जीवके मिथ्यात्वका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण पाया जाता है । इस प्रकारके मिथ्यात्वको सादि-सान्त कहते हैं; क्योंकि उसका आदि और अन्त दोनों पाये जाते हैं । इसी सादि-सान्त मिथ्यात्वका उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण है । इसका अभिप्राय यह है कि जब कोई जीव पहिली बार सम्यक्त्व प्राप्त कर अतिशीघ्र मिथ्यात्वको प्राप्त हो जाता है, तो वह अधिकसे अधिक भी मिथ्यात्व गुणस्थान में रहेगा, तो कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन में जितना काल लगता है, कुछ कम उतने काल तक ही रहेगा, उसके अनन्तर यह नियमसे सम्यक्त्वको प्राप्त कर और संयमको धारण कर मोक्ष चला जाता है ।

१. अर्धपुद्गलपरिवर्तनका स्वरूप जानने के लिए इस प्रकरणवाली धवला टीका, गो. जीवकांडकी भव्यमार्गणा और सर्वावसिद्धि अ० २ सू० ८ की टीका देखना चाहिए ।

इस प्रकार चौदह गुणस्थानों और चौदह मार्गणाओंके जघन्य और उत्कृष्ट कालका वर्णन एक और नाना जीवोंकी अपेक्षा प्रकृत प्ररूपणामें किया गया है। इस काल प्ररूपणाका स्वाध्याय करनेपर पाठकगण कितनी ही नवीन बातोंको जान सकेंगे।

६ अन्तर प्ररूपणा

अन्तर नाम विरह, व्युच्छेद या अभावका है। किसी विवक्षित गुणस्थानवर्ती जीवका उस गुणस्थानको छोड़ कर अन्य गुणस्थानमें चले जाने पर पुनः उसी गुणस्थानकी प्राप्तिके पूर्व तकके कालका अन्तरकाल या विरहकाल कहते हैं। सबसे छोटे विरहकालको जघन्य अन्तर और सबसे बड़े विरह कालको उत्कृष्ट अन्तर कहते हैं। इस प्रकारके अन्तरकालका प्ररूपणा करनेवाली इस अन्तर प्ररूपणा में यह बतलाया गया है कि यह जीव किस गुणस्थान और मार्गणास्थानसे कमसे कम कितने काल तकके लिए और अधिकसे अधिक कितने काल तकके लिए अन्तरको प्राप्त होता है।

जैसे— ओघकी अपेक्षा किसीने पूछा कि मिथ्यादृष्टिजीवोंका अन्तरकाल कितना है ? इसका उत्तर दिया गया है कि नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है, वे निरन्तर हैं। अर्थात् संसारमें सदा ही मिथ्यादृष्टि जीव पाये जाते हैं, अतः उनका अन्तरकाल सम्भव नहीं है। किन्तु एक जीवकी अपेक्षा मिथ्यात्वका जघन्य अन्तर काल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है। यह जघन्य अन्तरकाल इस प्रकार घटित होता है कि कोई एक मिथ्यादृष्टि जीव परिणामोंकी विशुद्धिके निमित्तसे सम्यक्त्व को प्राप्त कर असंयतसम्यग्दृष्टि हो गया। वह इस चौथे गुणस्थानमें सबसे छोटे अन्तर्मुहूर्त काल तक सम्यक्त्वके साथ रहकर संकेश आदिके निमित्तसे गिरा और मिथ्यादृष्टि हो गया। इस प्रकार मिथ्यात्वगुणस्थानको छोड़कर और अन्य गुणस्थानको प्राप्त होकर पुनः उसी गुणस्थानमें आनेके पूर्व तक जो अन्तर्मुहूर्तकाल मिथ्यात्वपर्यायसे रहित रहा, यही उस एक जीवकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि-गुणस्थानका जघन्य अन्तरकाल है।

मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अन्तरकाल एक जीवकी अपेक्षा कुछ कम दो छयासठ सागर अर्थात् एक सौ बत्तीस (१३२) सागरोपम है। यह उत्कृष्ट अन्तरकाल इस प्रकार घटित होता है कि कोई जीव चौदह सागरकी आयुवाले लान्तव-कापिष्ठ स्वर्गके देवोंमें उत्पन्न हुआ। वहां एक सागरके पश्चात् सम्यक्त्वको प्राप्त किया। पुनः तेरह सागरतक वहां रहकर सम्यक्त्वके साथ ही च्युत हो मनुष्य हो गया। यहांपर संयमासंयम या संयमको धारण कर मरा और बाईस सागरकी आयुवाले सोलहवें स्वर्गमें देव उत्पन्न हो गया। वहां अपनी पूरी आयुपर्यंत सम्यक्त्वके साथ रहकर च्युत हो पुनः मनुष्य हो गया। इस भवमें संयमको धारण कर मरा और इकतीस सागरकी आयुवाले नौवें प्रैवेयकमें जाकर उत्पन्न हो गया। वहांपर जीवन पर्यन्त सम्यग्दृष्टि रहा, किन्तु जीवनके अन्त में छयासठ सागर पूरे हो जानेपर मिश्र प्रकृतिका उदय आ जानेसे तीसरे गुणस्थानको प्राप्त

हो गया। वहां अन्तर्मुहूर्त काल तक रहकर पुनः सम्यग्दृष्टि बन गया और कुछ समय विश्राम कर वहांसे च्युत होकर पुनः मनुष्य हो गया। पुनः इस भवमें भी संयमको धारण कर मरा और बीस, बाईस या चौबीस सागरकी आयुवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ। इस प्रकार वह मनुष्य और देवोंके भवमें सम्यक्त्वके साथ तब तक परिभ्रमण करता रहा— जब तककि दूसरी-वारभी छयासठ सागर पूरे नहीं हुए। दूसरी वार छयासठ सागरतक सम्यक्त्वके साथ रहनेका काल पूरा होनेपर परिणामोंमें संकेशकी वृद्धिसे वह गिरा और मिथ्यात्वी बन गया। इस प्रकार वह लगातार दो छयासठ अर्थात् एक सौ बत्तीस सागरतक सम्यक्त्वी बना रहकर मिथ्यात्वगुणस्थानसे अन्तरित रहा। यह उसके मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अन्तरकाल है। यहां इतना विशेष जानना चाहिए कि उक्त जीव जितनेवार मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ, उतनेवार मनुष्य भवकी आयुसे हीन ही देवायुका धारक बना है। यदि मनुष्यभवसम्बन्धी आयुको देवायुमें कम न किया जाय, तो अन्तर काल एक सौ बत्तीस सागर से अधिक हो जायगा। यहां इतना और भी विशेष ज्ञातव्य है कि यह जो एक सौ बत्तीस सागरतक मनुष्य और देवोंमें परिभ्रमणकाल बतलाया गया है, वह तो मन्द बुद्धियोंको समझानेके लिए कहा है। यथार्थतः जिस किसी भी स्वर्ग या त्रैवेयकादिमें उत्पन्न होते हुए वह एक सौ बत्तीस सागर पूरा कर सकता है।

कालप्ररूपणा के पश्चात् अन्तरप्ररूपणा करनेका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक गुणस्थान या मार्गणास्थानके कालके साथ उसके अन्तरका सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। कालप्ररूपणामें जिन जिन गुणस्थानों का नाना जीवोंकी अपेक्षा सर्वकाल बतलाया गया है, उन उन गुणस्थानवर्ती जीवों का नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं होता है। उनके अतिरिक्त शेष सभी गुणस्थानवर्ती जीवों का नाना जीवोंकी और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर होता है। इस प्रकार नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर-रहित छह गुणस्थान हैं— १ मिथ्यादृष्टि, २ असंयतसम्यग्दृष्टि, ३ संयतासंयत, ४ प्रमत्त-संयत, ५ अप्रमत्तसंयत और ६ सयोगिकेवली। इन गुणस्थानों में सदा ही अनेक जीव विद्यमान रहते हैं। हां, इन गुणस्थानोंमें से सयोगिकेवली को छोड़कर शेष पांच गुणस्थानों में एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर होता है, जिसे कि ग्रन्थका स्वाध्याय करनेपर पाठकगण भली-भांति जान सकेंगे।

मार्गणाओंमें आठ मार्गणाएं ही ऐसी हैं, जिनका अन्तर होता है। शेष सब निरन्तर रहती हैं। जिनका अन्तरकाल संभव है, ऐसी मार्गणाओंको सान्तरमार्गणा कहते हैं। उन आठ में पहली है— उपशम सम्यक्त्वमार्गणा। इसका उत्कृष्ट अन्तर काल सात अहोरात्र (दिन-रात) है। इसका अर्थ यह है कि संसार में उपशम सम्यग्दृष्टि जीवोंका अधिकसे अधिक सात अहोरात्र तक अभाव रह सकता है। उनके पश्चात् तो नियमसे कोई न कोई जीव उपशम सम्यक्त्वको ग्रहण करेगा ही। दूसरी सान्तरमार्गणा सूक्ष्मसाम्पराय संयममार्गणा है। इसका उत्कृष्ट अन्तरकाल छह

मास है। तीसरी सान्तरमार्गणा आहारककाय योगमार्गणा है। इसका उत्कृष्ट अन्तरकाल वर्षपृथक्त्व है। चौथी आहारकमिश्रकाययोगमार्गणा है। इसका भी उत्कृष्ट अन्तरकाल वर्षपृथक्त्व है। पांचवीं वैक्रियिकमिश्रकाययोगमार्गणा है। इसका उत्कृष्ट अन्तरकाल बारह मुहूर्त है। छठी लब्ध्वपर्याप्त मनुष्यगतिमार्गणा है, सातवीं सासादन सम्यक्त्वमार्गणा है और आठवीं सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणा है। इन तीनों ही मार्गणाओंका उत्कृष्ट अन्तरकाल पृथक्-पृथक् पत्यका असंख्यातवां भाग है। इन सब सान्तरमार्गणाओंका जघन्य अन्तरकाल एक समयप्रमाण ही है। इन सभी सान्तरमार्गणाओंका अन्तरकाल पूरा होती ही उस-उस मार्गणावाले जीव नियमसे उत्पन्न हो जाते हैं। इन आठ मार्गणाओंके सिवाय शेष सभी मार्गणाओंवाले जीव सदा ही पाये जाते हैं।

एक जीवकी अपेक्षा किस गुणस्थान और मार्गणास्थानका कितना जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर सम्भव है, तथा नाना जीवोंकी अपेक्षा किसका कितना अन्तर सम्भव है, इसका विशेष परिचय तो इस प्ररूपणाके स्वाध्याय करनेपर ही मिल सकेगा।

७ भावप्ररूपणा

इस भावप्ररूपणामे विभिन्न गुणस्थानों और मार्गणास्थानोंमें होनेवाले भावोंका निरूपण किया गया है। कर्मोंके उदय, उपशम आदिके निमित्तसे जीवके उत्पन्न होनेवाले परिणाम विशेषोंको भाव कहते हैं। ये भाव पांच प्रकारके होते हैं— १ औदयिक भाव, २ औपशमिक भाव, ३ क्षायिक भाव, ४ क्षायोपशमिक भाव और ५ पारिणामिक भाव। कर्मोंके उदयसे जो भाव होते हैं, उन्हें औदयिक भाव कहते हैं। इसके इक्कीस भेद हैं— नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार गतियां; स्त्री, पुरुष और नपुंसक ये तीन लिंग; क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय; मिथ्यात्व, असिद्धत्व, अज्ञान, असंयम और कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये छह लेश्याएं। मोहकर्मके उपशमसे जो भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें औपशमिक भाव कहते हैं। इसके दो भेद हैं— १ औपशमिकसम्यक्त्व और २ औपशमिकचारित्र। घातियाकर्मोंके क्षयसे जो भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें क्षायिकभाव कहते हैं। इसके नौ भेद हैं— १ क्षायिकसम्यक्त्व, २ क्षायिक-चारित्र, ३ क्षायिकज्ञान, ४ क्षायिकदर्शन, ५ क्षायिकदान, ६ क्षायिकलाभ, ७ क्षायिकभोग, ८ क्षायिकउपभोग और ९ क्षायिकवीर्य। घातियाकर्मोंके क्षयोपशमसे जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। इसके अट्ठारह भेद हैं— मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान; कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि ये तीन अज्ञान; चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीन दर्शन; क्षायोपशमिक दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पांच लब्धियां; क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र और संयमासंयम। जो भाव किसी भी कर्मके उदय, उपशम आदिकी अपेक्षा न रखकर स्वतः स्वभाव अनादिसे चले आ रहे हैं, उन्हें पारिणामिक भाव कहते हैं। इसके तीन भेद हैं— १ जीवत्व, २ भव्यत्व और ३ अभव्यत्व।

उक्त भावोंमेंसे किस गुणस्थान और किस मार्गणस्थान में कौनसा भाव होता है, इसका विवेचन इस भाव प्ररूपणामें किया गया है। जैसे ओषकी अपेक्षा पूछा गया कि 'मिथ्यादृष्टि' यह कौनसा भाव है ? इसका उत्तर दिया गया कि मिथ्यादृष्टि यह औदयिक भाव है। इसका कारण यह है कि जीवोंके मिथ्यादृष्टि अर्थात् विपरीत श्रद्धा मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होती है। यहां यह शंका की जा सकती है कि जब मिथ्यादृष्टि जीवके मिथ्यात्व भाव के अतिरिक्त ज्ञान, दर्शन, भव्यत्व आदि अन्य भी भाव पाये जाते हैं, तब उसके एक मात्र औदयिक भाव ही क्यों बतलाया गया ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि यद्यपि मिथ्यादृष्टि जीवके औदयिक भावके अतिरिक्त अन्य भाव भी होते हैं, किन्तु वे मिथ्यादृष्टित्वके कारण नहीं हैं, एक मात्र मिथ्यात्वकर्मका उदय ही मिथ्यादृष्टित्वका कारण होता है, इसलिए मिथ्यात्व गुणस्थानमें पैदा होनेवाले मिथ्यादृष्टिको औदयिक भाव कहा गया है।

दूसरे गुणस्थानमें अन्य भावोंके रहते हुए भी पारिणामिक बतलानेका कारण यह है कि जिस प्रकार जीवत्व आदि पारिणामिक भावोंके लिए कर्मोंका उदय उपशम आदि कारण नहीं हैं उसी प्रकार सासादन सम्यक्त्वरूप भावके लिए दर्शनमोहनीयकर्मका उदय, उपशमादि कोई भी कारण नहीं है, इसलिए यहां पारिणामिक भाव ही जानना चाहिए।

तीसरे गुणस्थानमें क्षायोपशमिक भाव होता है। यहां यह शंका उठाई जा सकती है कि प्रतिबन्धी कर्मके उदय होनेपर भी जो जीवके स्वाभाविक गुणका अंश पाया जाता है वह क्षायोपशमिक कहलाता है। किन्तु सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें तो सम्यक्त्वगुणकी कणिका भी अवशिष्ट नहीं रहती है। यदि ऐसा न माना जाय तो सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके सर्वघातिपना नहीं बन सकता। अतएव सम्यग्मिथ्यात्व भावको क्षायोपशमिक मानना ठीक नहीं है। इसका उत्तर यह है कि सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदय होनेपर श्रद्धान और अश्रद्धानरूप एक मिश्रभाव उत्पन्न होता है। उसमें जो श्रद्धानांश है, वह सम्यक्त्वगुणका अंश है, उसे सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिका उदय नष्ट नहीं करता। अतः सम्यग्मिथ्यात्व भावको क्षायोपशमिक ही मानना चाहिए।

चौथे गुणस्थानमें औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीन भाव पाये जाते हैं। इसका कारण यह है कि यहांपर दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम, क्षय और क्षयोपशम ये तीनों ही होते हैं।

आदिके ये चार गुणस्थान दर्शनमोहनीय कर्मके उदय, उपशम, क्षय आदिसे उत्पन्न होते हैं, इसलिए उन गुणस्थानोंमें अन्य भावोंके पाये जानेपरभी दर्शनमोहनीयकी अपेक्षासे भावोंकी प्ररूपणा की गई है। चौथे गुणस्थानतक जो असंयमभाव पाया जाता है, वह चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण औदयिक भाव है, पर यहां उसकी विवक्षा नहीं की गई है।

पांचवेंसे लेकर बारहवें तक आठ गुणस्थानोंके भावोंका प्रतिपादन चारित्र मोहनीय कर्मके क्षयोपशम, उपशम और क्षयकी अपेक्षासे किया गया है। अर्थात् पांचवें, छठे और सातवें गुणस्थानमें चारित्र-मोहके क्षयोपशमसे क्षायोपशमिक भाव होता है। आठवें, नववें, दशवे और ग्यारहवें इन चार उपशामक गुणस्थानोंमें चारित्रमोहके उपशमसे औपशमिक भाव, तथा क्षपकश्रेणी सम्बन्धी चारों गुणस्थानोंमें चारित्रमोहनीयके क्षयसे क्षायिक भाव होता है। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानोंमें जो क्षायिक भाव पाये जाते हैं वे घ्रातिया कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुए जानना चाहिए।

जिस प्रकारसे गुणस्थानोंमें यह भावोंका निरूपण किया गया है, उसी प्रकार मार्गणा-स्थानोंमें भी संभव गुणस्थानोंकी अपेक्षा भावोंका विस्तारसे निरूपण किया गया है, जिसका अनुभव पाठकगण ग्रन्थके स्वाध्याय करनेपर ही सहजमें कर सकेंगे।

८ अल्पबहुत्वप्ररूपणा

इस प्ररूपणामें संख्याप्ररूपणाके आधारपर गुणस्थानों और मार्गणास्थानोंमें पाये जानेवाले जीवोंकी संख्याकृत अल्पता और अधिकताका प्रतिपादन किया गया है। गुणस्थानोंमें जीवोंका अल्पबहुत्व इस प्रकार बतलाया गया है— अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानोंमें उपशामक जीव प्रवेशकी अपेक्षा परस्पर समान हैं और शेष सब गुणस्थानोंके प्रमाणसे अल्प हैं, क्योंकि कि इन तीनों ही गुणस्थानोंमें पृथक् पृथक् रूपसे प्रवेश करनेवाले जीव एक, दो, तीन को आदि लेकर अधिकसे अधिक चौपन तक ही पाये जाते हैं। इतने कम जीव इन तीनों उपशामक गुणस्थानोंको छोड़कर अन्य किसी गुणस्थानमें नहीं पाये जाते हैं। उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ जीव भी पूर्वोक्त प्रमाण ही हैं, क्योंकि उक्त उपशामक जीव ही चढ़ते हुए ग्यारहवें गुणस्थानमें प्रवेश करते हैं। उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थोंसे अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानवर्ती क्षपक संख्यातगुणित हैं, क्योंकि उपशामकके एक गुणस्थानमें अधिकतम प्रवेश करनेवाले चौपन जीवोंकी अपेक्षा क्षपकके एक गुणस्थानमें अधिकतम प्रवेश करनेवाले एक सौ आठ जीवोंके दूने प्रमाण-स्वरूप संख्यातगुणितता पाई जाती है। क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ जीव पूर्वोक्त प्रमाण ही हैं, क्योंकि उक्त क्षपक जीव ही इस बारहवें गुणस्थानमें प्रवेश करते हैं। सयोगिकेवली और अयोगिकेवली जिन प्रवेशकी अपेक्षा दोनों ही परस्पर समान होकर पूर्वोक्तप्रमाण अर्थात् एक सौ आठ ही हैं। किन्तु सयोगिकेवली जिन संचयकालकी अपेक्षा प्रवेश करनेवाले जीवोंसे संख्यातगुणित हैं। सयोगिकेवली जिनोंसे सातवें गुणस्थानवाले अप्रमत्तसंयत जीव संख्यातगुणित हैं। अप्रमत्त-संयतोंसे प्रमत्तसंयत जीव संख्यातगुणित हैं। प्रमत्तसंयतोंसे संयतासंयत जीव असंख्यातगुणित हैं; क्योंकि इनमें मनुष्य संयतासंयतोंके साथ तिर्यच संयतासंयत राशि सम्मिलित है। संयतासंयतोंसे सासादनसम्यग्दृष्टि जीव असंख्यातगुणित हैं। सासादनसम्यग्दृष्टियोंसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव

संख्यातगुणित हैं। सम्यग्मिथ्यादृष्टियोंसे असंयत सम्यग्दृष्टि जीव असंख्यातगुणित हैं और असंयत-सम्यग्दृष्टि जीवोंसे मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त गुणित हैं। इस प्रकार गुणस्थानोंका यह अल्पबहुत्व दो दृष्टियोंसे बतलाया गया है— प्रवेशकी अपेक्षा और संचयकालकी अपेक्षा। जिन गुणस्थानोंका अन्तर नहीं होता, अर्थात् जो गुणस्थान संदा पाये जाते हैं, उनका अल्पबहुत्व संचयकालकी अपेक्षा बतलाया गया है। संदा पाये जानेवाले गुणस्थान छह हैं— पहला, चौथा, पांचवा, छठा, सातवां और तेरहवां। जिन गुणस्थानोंका अन्तरकाल सम्भव है, उनका अल्पबहुत्व प्रवेश और संचयकाल, इन दोनोंकी अपेक्षासे बतलाया गया है। जैसे अन्तरकाल पूरा होनेपर उपशम और क्षपकश्रेणीके गुणस्थानोंमें एक, दो से लगाकर अधिकसे अधिक ५४ और १०८ तक जीव एक समयमें प्रवेश कर सकते हैं। और निरन्तर आठ समयोंमें प्रवेश करनेपर उनके संचयका प्रमाण क्रमशः ३०४ और ६०८ तक एक एक गुणस्थानमें हो जाता है। यही क्रम चौदहवें गुणस्थानमें भी जानना चाहिए। दूसरे और तीसरे गुणस्थानके प्रवेश और संचयका प्रमाण सूत्रकारने नहीं बतलाया है, उसे धबला टीकासे जानना चाहिए।

इसके अतिरिक्त चतुर्थादि एक एक गुणस्थानमें सम्यक्त्वकी अपेक्षासे भी अल्पबहुत्व बतलाया गया है। जैसे चौथे गुणस्थानमें उपशम सम्यग्दृष्टि जीव सबसे कम हैं। उनसे क्षायिक-सम्यग्दृष्टि जीव असंख्यातगुणित हैं और उनसे वेदकसम्यग्दृष्टि जीव असंख्यातगुणित हैं। इस हीनाधिकताका कारण उत्तरोत्तर संचयकालकी अधिकता है। पांचवें गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव सबसे कम हैं। इसका कारण यह है कि बहुत कम ही क्षायिक सम्यग्दृष्टि संयमासंयमको ग्रहण करते हैं, वे अधिकतर सीधे संयमको ही धारण करते हैं। इस गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंसे उपशम सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणित होते हैं और उनसे वेदक सम्यग्दृष्टि असंख्यात गुणित होते हैं। छठे सातवें गुणस्थानमें उपशम सम्यग्दृष्टि जीव सबसे कम होते हैं। उनसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संख्यात गुणित होते हैं और उनसे वेदक सम्यग्दृष्टि जीव संख्यात गुणित होते हैं। इस अल्पबहुत्वका कारण संचयकालकी हीनाधिकता ही है। इसी प्रकारका सम्यक्त्वसम्बन्धी अल्पबहुत्व अपूर्वकरण आदि तीन उपशमक गुणस्थानोंमें जानना चाहिए। यहां यह बात ज्ञातव्य है कि इन गुणस्थानोंमें उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व ये दो सम्यक्त्व होते हैं, वेदक सम्यक्त्व नहीं। इसका कारण यह है कि वेदकसम्यक्त्वी जीव उपशमश्रेणीपर नहीं चढ़ सकता है। अतः उपशमश्रेणीके अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानोंमें उपशम सम्यक्त्वी जीव सबसे कम हैं और उनसे क्षायिक सम्यक्त्वी जीव संख्यात गुणित हैं। आगेके गुणस्थानोंमें और क्षपकश्रेणीके गुणस्थानोंमें सम्यक्त्वसम्बन्धी अल्पबहुत्व नहीं है, क्योंकि वहां सभी जीवोंके एक क्षायिक सम्यक्त्व ही पाया जाता है। इसी प्रकार पहिले, दूसरे और तीसरे गुणस्थानमें भी अल्पबहुत्व नहीं है, क्योंकि उनमें सम्यक्त्व होता ही नहीं है।

ऊपर जिस प्रकार गुणस्थानोंकी अपेक्षा अल्पबहुत्व बतलाया गया है, इसी प्रकार मार्गणास्थानोंमें भी सूत्रकारने जहां जितने गुणस्थान सम्भव हैं, वहां उनके अल्पबहुत्वका प्रतिपादन किया है, जिसका अनुभव पाठकगण इस प्ररूपणाके स्वाध्याय करते हुए करेंगे ।

चूलिका परिचय

इस प्रकार जीवस्थान नामक प्रथम खण्डकी आठों प्ररूपणाओंका विषय-परिचय कराया गया । अब इसी प्रथम खण्डकी नौ चूलिकाएं भी सूत्रकारने कहीं हैं । जो बातें आठों अनुयोगद्वारों (प्ररूपणाओं) में कहनेसे रह गई हैं और जिनका उनसे सम्बन्ध है, या जानना आवश्यक है । उनकी जानकारीके लिए प्रथम खण्डके परिशिष्टरूप प्रकरणोंको चूलिका कहते हैं ।

जीवस्थानखण्डकी नौ चूलिकाएं कहीं गई हैं, जिनके नाम हम प्रारम्भमें बतला आये हैं । यहां क्रमशः उनके विषयोंका परिचय कराया जाता है ।

१ प्रकृतिसमुत्कीर्तनचूलिका

जीवोंके गति, जाति आदिके रूपमें जो नानाभेद देखनेमें आते हैं, उनका कारण कर्म है । यह कर्म क्या वस्तु है, उसका क्या स्वरूप है और उसके कितने भेद-प्रभेद हैं ? इत्यादि शंकाओंके समाधानके लिए आचार्यने इस चूलिकाका निर्माण किया है ।

जीव अपने राग-द्वेषरूप विभावपरिणतिके द्वारा जिन कर्मण पुद्गल स्कन्धोंको खींचकर अपने प्रदेशोंके साथ बांधता है, उन्हें कर्म या प्रकृति कहते हैं । कर्मकी मूल प्रकृतियां आठ हैं— १ ज्ञानावरणीय, २ दर्शनावरणीय, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तराय । आत्माके ज्ञानगुणके आवरण करनेवाले कर्मको ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं । इसकी उत्तर प्रकृतियां ५ हैं । आत्माके दर्शनगुणके आवरण करनेवाले कर्मको दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं । इसकी उत्तर प्रकृतियां ९ हैं । आत्माको सुख या दुःखके वेदन करानेवाले कर्मको वेदनीय कहते हैं । इसकी उत्तर प्रकृतियां २ हैं । आत्माको सांसारिक पदार्थोंमें मोहित करनेवाले कर्मको मोहनीय कहते हैं । इसकी उत्तर प्रकृतियां २८ हैं । जीवको नरक, देव, मनुष्य आदिके भयोंमें रोक रखनेवाले कर्मको आयु कर्म कहते हैं । इसकी उत्तर प्रकृतियां ४ हैं । जीवके शरीर, अंग—उपांग, और आकार-प्रकारके निर्माण करनेवाले कर्मको नामकर्म कहते हैं । इसके पिण्डरूपमें ४२ और अपिण्डरूपमें ९३ प्रकृतियां हैं । उच्च और नीच कुलमें उत्पन्न करनेवाले कर्मको गोत्रकर्म कहते हैं । इसकी २ प्रकृतियां हैं । जीवके भोग, उपभोग आदि मनोवाञ्छित वस्तुकी प्राप्तिमें विघ्न करनेवाले कर्मको अन्तराय कहते हैं । इसकी ५ उत्तर प्रकृतियां हैं । इस प्रकार कर्मोंकी ८ मूल प्रकृतियों और १४८ उत्तर प्रकृतियोंका वर्णन इस प्रकृतिसमुत्कीर्तना चूलिकामें किया गया है ।

२. स्थानसमुत्कीर्तनचूलिका

प्रथम चूलिकाके द्वारा प्रकृतियोंकी संख्या और स्वरूप जान लेनेके पश्चात् यह जानना आवश्यक है कि उनमेंसे किस कर्मकी कितनी प्रकृतियां एक साथ बांधी जा सकती हैं और उनका बन्ध किन किन गुणस्थानोंमें सम्भव है। इसी विषयका प्रतिपादन इस चूलिकामें किया गया है। यहां कथनकी सुविधाके लिए चौदह गुणस्थानोंको छह भागोंमें विभक्त किया गया है— मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत। इनमेंके प्रथम पांचके नाम तो गुणस्थानके क्रमसे ही हैं, किन्तु अन्तिम नामके द्वारा छठे गुणस्थानसे लेकर ऊपरके उन सभी गुणस्थानोंका अन्तर्भाव कर लिया गया है, जहां तक कि विवक्षित कर्मप्रकृतियोंका बन्ध सम्भव है। ज्ञानावरणकर्मकी पांचों प्रकृतियोंके बन्धनेका एक ही स्थान है, क्योंकि मिथ्यादृष्टिसे लेकर दशवें गुणस्थान तक के सभी जीव उन पांचों ही प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं। दर्शनावरण कर्मकी नौ प्रकृतियोंके बन्धकी अपेक्षा तीन स्थान हैं— १ नौ प्रकृतिरूप, २ छह प्रकृतिरूप और ३ चार प्रकृतिरूप। इनमेंसे पहले और दूसरे गुणस्थानवर्ती जीव नौ प्रकृतिरूप स्थानका बन्ध करते हैं। तीसरे गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थानके प्रथम भाग तक के संयत जीव स्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा और प्रचला प्रचला इन तीन को छोड़कर शेष छह प्रकृतिरूप दूसरे गुणस्थानका बन्ध करते हैं। आठवें गुणस्थानके दूसरे भागसे लेकर दशवें गुणस्थान तक के संयत जीव निद्रा और प्रचला इन दो निद्राओंको छोड़कर शेष चार प्रकृतिरूप स्थानका बन्ध करते हैं। वेदनीयका एक ही बन्धस्थान है क्योंकि मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयत तक के सभी जीव साता और असाता इन दोनों वेदनीय प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं। मोहनीय कर्मके दश बन्धस्थान हैं— २२, २१, १७, १३, ९, ५, ४, ३, २ और १ प्रकृतिक। मोहनीय कर्मकी सर्व प्रकृतियां २८ हैं, पर उन सबका एक साथ बन्ध सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि एक समयमें तीन वेदोंमेंसे एक ही वेदका बन्ध होता है, अतः शेष दो वेद अबन्ध-योग्य रहते हैं। हास्य-रति और अरति-शोक इन दो जोड़ोंमेंसे एक साथ एकका ही बन्ध होता है, अतः एक जोड़ा अबन्ध-योग्य रहता है। तथा सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन दो प्रकृतियोंका बन्ध होता ही नहीं है, केवल उद्य या सत्त्व ही होता है। अतः ये दो भी अबन्ध-योग्य रहती हैं। इस प्रकार इन छह प्रकृतियोंको छोड़कर शेष जो बाईस प्रकृतियां रहती हैं, उनका बन्ध मिथ्यादृष्टि जीव करता है। इन बाईसमेंसे मिथ्यात्वका बन्ध दूसरे गुणस्थानमें नहीं होता है। अतः शेष इक्कीस प्रकृतियोंका बन्ध सासादन सम्यग्दृष्टि करते हैं। यहां इतनी बात ध्यानमें रखनेकी है, कि दूसरे गुणस्थानमें नपुंसकवेदका बन्ध नहीं होनेपर भी बन्धनेवाली प्रकृतियोंकी संख्या इक्कीस ही बनी रहती है। क्योंकि पहले गुणस्थानमें तीन वेदोंमेंसे कोई एक वेद एक समयमें बंधता था, यहांपर नपुंसकवेदको छोड़कर शेष दो वेदोंमेंसे कोई एक वेद बंधता है। तीसरे और चौथे गुणस्थानमें

अनन्तानुबन्धी चार कषायोंका भी बन्ध नहीं होता है, अतः सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि जीव शेष सत्तरह प्रकृतिक स्थानका बन्ध करते हैं। यहांपर भी यह ज्ञातव्य है कि उक्त दोनों जीव खीवेदका भी बन्ध नहीं करते हैं, किन्तु उसके नहीं बंधनेसे प्रकृतियोंकी संख्यामें कोई अन्तर नहीं पड़ता है। संयतासंयत जीव उक्त सत्तरह प्रकृतियोंमेंसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्कको छोड़कर शेष तेरह प्रकृतिक स्थानका बन्ध करते हैं। इन तेरह प्रकृतियोंमेंसे प्रत्याख्यानावरण चतुष्क को छोड़कर शेष नौ प्रकृतिक स्थानका बन्ध प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत और अपूर्वकरणसंयत ये तीनों प्रकारके संयत करते हैं। पुरुषवेद और संज्वलनकषाय चतुष्क इन पांच प्रकृतिक स्थानका बन्ध अनिवृत्तिकरणसंयत करते हैं। पुनः पुरुषवेदको छोड़कर शेष संज्वलन-चतुष्करूप चार प्रकृतिक स्थानका, उनमेंसे संज्वलन क्रोधको छोड़कर शेष तीन प्रकृतिक स्थानका, उनमेंसे संज्वलन मानको छोड़कर शेष दो प्रकृतिक स्थानका और उनमेंसे संज्वलन मायाको छोड़कर शेष एक प्रकृतिक स्थानका भी बन्ध नववै गुणस्थानवर्ती अनिवृत्तिकरण संयत ही करते हैं।

आयुकर्मकी चारों प्रकृतियोंके पृथक् पृथक् चार बन्धस्थान हैं— पहिला नरकायुको बांधनेवाले मिथ्यादृष्टिका, दूसरा तिर्यगायुको बांधनेवाले मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टिका, तीसरा मनुष्यायुको बांधनेवाले मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टिका और चौथा देवायुको बांधनेवाले मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और सातवें गुणस्थान तकके संयतोंका है। तीसरे गुणस्थानवर्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव किसी भी आयुका बन्ध नहीं करते हैं।

नामकर्मकी भेदविवक्षासे यद्यपि ९३ और अभेदविवक्षासे ४२ प्रकृतियां हैं, पर उन सबका एक जीवके एक साथ बन्ध नहीं होता। किन्तु अधिकसे अधिक ३१ प्रकृतियोंतकको कोई जीव बांध सकता है और कमसे कम एक प्रकृतितकको बांधता है। अतएव नामकर्मके बन्धस्थान आठ हैं— ३१, ३०, २९, २८, २६, २५, २३ और १ प्रकृतिक। इन सब स्थानोंकी प्रकृतियोंका और उनके बन्ध करनेवाले स्वामियोंका वर्णन विस्तारके भयसे यहां नहीं कर रहे हैं। पाठकगण इस चूल्काका स्वाध्याय करनेपर खय ही उसकी महत्ता और विशालताका अनुभव करेंगे। संक्षेपमें यहां इतनाही जानना चाहिए कि यशस्कीर्तिरूप एक प्रकृतिक स्थानका बन्ध दशम गुणस्थानवर्ती सूक्ष्मसाम्परायसंयतके होता है। शेष सात स्थानोंका बन्ध एकेन्द्रिय जीवोंसे लगाकर पंचेन्द्रिय तकके तिर्यच, तथा देव-नारकी और नववै गुणस्थान तकके मनुष्य करते हैं।

गोत्रकर्मके केवल दो ही बन्धस्थान हैं— उनमेंसे नीचगोत्रका बन्ध पहले और दूसरे गुणस्थानवाले जीव करते हैं। तथा उच्चगोत्रका बन्ध पहलेसे लेकर दशवै गुणस्थान तकके जीव करते हैं।

अन्तरायकर्मका केवल एक ही बन्धस्थान है, क्योंकि पहले गुणस्थानसे लेकर दशवें गुणस्थान तकके सभी जीव अन्तरायकर्मकी पांचोंही प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं ।

३ प्रथम महादण्डकचूलिका

आठों कर्मोंकी १४८ उत्तर प्रकृतियोंमेंसे बन्ध-योग्य प्रकृतियां केवल १२० बतलाई गई हैं, उनमें भी मिथ्यात्व गुणस्थानमें बन्ध-योग्य ११७ ही हैं, क्योंकि तीर्थंकर और आहारशरीर-आहारकअंगोपांग इन तीन प्रकृतियोंका यहां बन्ध नहीं होता है । इन ११७ मेंसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेके सन्मुख जो तीर्थंच या मनुष्य मिथ्यादृष्टि जीव हैं, वह केवल ७३ ही प्रकृतियोंको बांधता है, शेष असातावेदनीय, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद आदि ४४ अशुभप्रकृतियोंका वह बन्ध नहीं करता है । उक्त जीव सम्यक्त्वोत्पत्तिके समय किसी आयुकर्मका भी बन्ध नहीं करता है । प्रस्तुत ग्रन्थमें जितने भी सूत्र आये हैं, उन सबमें इस चूलिकाका दूसरा सूत्र सबसे अधिक लम्बा है, इसलिए इसे प्रथम महादण्डक कहा जाता है ।

४ द्वितीय महादण्डकचूलिका

इस द्वितीय महादण्डकमें प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अभिमुख देव और सातवीं पृथिवीके नारकियोंको छोड़कर शेष छह पृथिवियोंके नारकी मिथ्यादृष्टि जीवोंके बन्ध-योग्य ६७ प्रकृतियोंको गिनाया गया है । अधिक लम्बा सूत्र होनेके कारण इसे दूसरा महादण्डक कहा जाता है ।

५ तृतीय महादण्डकचूलिका

इस चूलिकामें प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अभिमुख सातवीं पृथिवीके मिथ्यादृष्टि नारकी जीवके बन्ध-योग्य ७३ प्रकृतियोंको गिनाया गया है । इस सूत्रके भी अधिक लम्बे होनेके कारण इसे तीसरा महादण्डक कहा जाता है ।

६ उत्कृष्ट स्थितिचूलिका

कर्मोंका स्वरूप, उनके भेद-प्रभेद और बन्धस्थानोंके जान लेनेपर प्रत्येक अभ्यासीके हृदयमें यह जिज्ञासा उत्पन्न होगी कि एक बार बंधे हुए कर्म कितने कालतक जीवके साथ रहते हैं, सब कर्मोंका स्थितिकाल समान है, या हीनाधिक ? बंधनेके कितने समयके पश्चात् कर्म अपना फल देते हैं ? इस प्रकारकी जिज्ञासा-पूर्तिके लिए उत्कृष्ट स्थिति और जवन्व्य स्थिति नामवाली दो चूलिकाओंका निर्माण किया गया है । उत्कृष्ट स्थितिचूलिकामें आठों कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई है । यथा— ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागरोपम है । मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम है । नाम

और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागरोपम है और आयुर्कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम है। जिस प्रकार मूल कर्मोंकी यह उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है, उसी प्रकार उनकी उत्तर प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन इसी चूलिकामें किया गया है। इस स्थितिवर्णनके साथ ही उनके अबाधाकाल और निषेककालका भी वर्णन किया गया है। कर्मबन्ध होनेके पश्चात् जितने समय तक वह बाधा नहीं देता, अर्थात् उदयमें आकर फल देना नहीं प्रारम्भ करता है, उतने कालका नाम अबाधाकाल है। इस अबाधाकालके आगे जो कर्मस्थितिका काल शेष रहता है और जिसमें कर्म उदयमें आकर फल देकर झड़ता जाता है, उस कालको निषेककाल कहते हैं। अबाधाकालका सामान्य नियम यह है कि जिस कर्मकी स्थिति एक कोड़ाकोड़ी सागरकी होगी, उसका अबाधाकाल १०० वर्षका होगा, अर्थात् वह कर्म १०० वर्षतक अपना फल नहीं देगा, इसके पश्चात् फल देना प्रारम्भ करेगा। इस नियमके अनुसार जिन कर्मोंकी स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागर है, उनका अबाधाकाल तीन हजार वर्ष है। जिनकी स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागर है, उनका अबाधाकाल सात हजार वर्ष है और जिनकी स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागर है उनका अबाधाकाल दो हजार वर्ष है। आयुर्कर्मकी अबाधाका नियम इससे भिन्न है। उसकी अबाधाका उत्कृष्टकाल अधिकसे अधिक एक पूर्वकोटि वर्षका त्रिभाग है। जिन कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपम या इससे कम होती है उनका अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होता है। अन्तर्मुहूर्तके जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट तक असंख्य भेद पहिले बतलाये हैं, सो जिस कर्मकी अन्तः कोड़ाकोड़ीसे लेकर आगे बतलाई जानेवाली जघन्य स्थिति जितनी कम होगी— उनको अबाधाकालका अन्तर्मुहूर्त भी उतना ही छोटा जानना चाहिए।

७ जघन्यस्थितिचूलिका

इस चूलिकामें सभी मूलकर्मों और उनकी उत्तर प्रकृतियोंकी जघन्यस्थितिका, उनके जघन्य अबाधाकालका और निषेककालका वर्णन किया गया है। वेदनीय कर्मकी सर्व जघन्य स्थिति १२ मुहूर्तकी है, नाम और गोत्रकर्मकी ८ मुहूर्तकी है और शेष पांचों कर्मोंकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्रकी होती है। पर इस सर्व जघन्य स्थितिका बन्ध हर एक जीवके नहीं होता है, किन्तु क्षपकश्रेणीपर चढ़नेवाले दशवें गुणस्थानवर्ती सूक्ष्मसाम्पराय संयत्के उस प्रकृतिके बन्धसे विच्छिन्न होनेके अन्तिम समयमें मोहनीय और आयुर्कर्मको छोड़कर शेष छह कर्मोंकी उक्त जघन्य स्थितिका बन्ध होता है। मोहनीयकर्मकी सर्व जघन्य स्थिति जो अन्तर्मुहूर्तप्रमाण बतलाई है, उसका बन्ध क्षपकश्रेणीवाले साधुके नवमगुणस्थानके अन्तिम समयमें होता है। आयुर्कर्मकी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण सर्व जघन्यस्थितिका बन्ध मनुष्य या तिर्यच मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं। साधारणतः विभिन्न प्रकृतियोंकी यह जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तसे लगाकर अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक है, पर उन सबका अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है, उससे शेष बचे कालको निषेककाल जानना चाहिए।

जिन कर्मोंकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र होती है, उनका अबाधाकाल भी तदनुकूल सर्वलघु अन्तर्मुहूर्तप्रमाण जानना चाहिए ।

इन दोनों चूलिकाओंमें यह बात ध्यान रखनेकी है कि आयुकर्मका अबाधाकाल बध्यमान स्थितिमेंसे नहीं घटाया जाता है, किन्तु मुख्यमान आयुके त्रिभागमें ही उसका अबाधाकाल होता है । अतः आयुकर्मका जितना स्थितिवन्ध होता है, उतना ही उसका निषेककाल बतलाया गया है ।

८ सम्यक्त्वोत्पत्तिचूलिका

अनादिकालसे परिभ्रमण करते हुए इस जीवको सम्यक्त्वकी प्राप्ति होना ही सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है । इस चूलिकामें इसी सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका वर्णन किया गया है ।

जब जीवके संसार-परिभ्रमणका काल अर्धपुद्गल परिवर्तनप्रमाण रह जाता है, तभी जीवमें सम्यग्दर्शन उत्पन्न करनेकी पात्रता आती है, इसके पूर्व नहीं; इसका नाम ही काललब्धि है । इस काललब्धिके प्राप्त होनेपर भी हर एक जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करनेके योग्य नहीं होता, किन्तु संज्ञी पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक सर्वविशुद्ध जीव ही उसे प्राप्त करनेके योग्य होता है । भले ही वह चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिका जीव क्यों न हो । यहां यह विशेष ज्ञातव्य है कि तिर्यग्गतिके एकेन्द्रियसे लगाकर असंज्ञी पंचेन्द्रियतकके सभी जीवोंमें मन न होनेसे सम्यक्त्वकी पात्रता नहीं है और संज्ञी पंचेन्द्रियोंमें भी जो सम्मूर्च्छिम संज्ञी हैं, वे भी प्रथमवार उमशम सम्यक्त्वको उत्पन्न नहीं कर सकते हैं । शेष गर्भज पंचेन्द्रिय सभी पशु-पक्षी कर्मभूमिज या भोगभूमिज तिर्यच, मनुष्य, देव और नारकी जीव तब प्रथमोपशम सम्यक्त्वको उत्पन्न करते हैं, जब उनकी कषाय मन्द हों और तीव्र अनुभाग और उत्कृष्ट स्थितिके कर्मोंका उनके बन्ध न हो रहा हो । किन्तु अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम स्थितिवाले ही नवीन कर्म बंध रहे हों, इतनीही स्थितिवाले कर्मोंका उदय हो रहा हो । और इतनी ही स्थितिवाले कर्म सत्तामें हों । यह तो हुई जीवकी आन्तरिक योग्यताकी बात

अब बाह्य निमित्त भी ज्ञातव्य हैं— उक्त प्रकारकी योग्यतावाले जीवोंमेंसे नारकी तीन कारणोंसे सम्यक्त्वको उत्पन्न करते हैं— कोई जातिस्मरणसे, कोई किसी देवादिके द्वारा धर्म श्रवणसे और कोई वेदनाकी पीड़ासे । चौथेसे सातवें नरक तकके नारकी धर्म श्रवणको छोड़कर शेष दो कारणोंसे सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं । तिर्यच तीन कारणोंसे सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं— कितने ही जातिस्मरणसे, कितने ही धर्म सुनकर और कितने ही जिनबिम्ब देखकर । मनुष्य भी इन ही तीनों कारणोंसे सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं । भवनत्रिकसे लगाकर बारहवें स्वर्ग तकके देव चार कारणोंसे सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं— जातिस्मरणसे, धर्मश्रवणसे, जिन महिमाके अवलोकनसे और महर्द्धिक

देशोंके वैभवके देखनेसे । बारहवें स्वर्गसे सोलहवें स्वर्ग तकके देव अन्तिम कारणको छोड़कर शेष तीन कारणोंसे सम्यक्त्वको उत्पन्न करते हैं । नौ प्रैवेयकोंके अहमिन्द्र जातिस्मरण और धर्मश्रवण इन दो ही कारणोंसे सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं । नव अनुदिश और पंच अनुत्तरवासी सभी देव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं ।

इस प्रकार काललब्धिके प्राप्त होनेपर और उपर्युक्त अन्तरंग योग्यता और बाह्य निमित्त कारणोंके मिलनेपर यह जीव सर्वप्रथम उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करता है । इन दोनों प्रकारके कारणोंके मिलनेपर उसके करणलब्धि प्रकट होती है, जिससे वह अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामोंके द्वारा दर्शनमोहके उपशमानेका प्रयत्न करता है । इन तीनों करणोंका स्वरूप गुणस्थानोंके वर्णन करते हुए बतला आये हैं । वहाँपर इन तीनों करणोंको संयत जीव चारित्रमोहके उपशमन या क्षपणके लिए करता है; किन्तु वहाँपर सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव दर्शनमोहके उपशमन करनेके लिए करता है । प्रत्येक करणका काल अन्तर्मुहूर्त है और तीनोंका सम्मिलित काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है । इनमेंसे अधःकरण और अपूर्वकरणके कालमें उत्तरोत्तर अपूर्व विशुद्धिको प्राप्त होकर प्रतिसमय कर्मोंकी असंख्यातगुणी निर्जरा करता हुआ अनिवृत्तिकरण कालका बहुभाग बिताकर दर्शनमोहकर्मका अन्तरकरण करता हुआ उसके तीन तुकड़े कर देता है— जिनके नाम क्रमशः मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति हैं । जैसे कोदों (धान्यविशेष) को चक्कीसे दलनेपर उसके तीन भाग होते हैं— कुछ ज्यों के त्यों कोदोंके रूपमें रहते हैं, कुछके ऊपरके छिलके उतर जाते हैं और कुछ चढ़े रहते हैं और कुछके सभी छिलके अलग हो जाते हैं और निस्तुष चावल बन जाते हैं । जैसे ही एक दर्शनमोहके तीन तुकड़े होते हैं, उसी समय वह जीव उनका उपशम करके उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त कर लेता है ।

इस प्रकारसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका वर्णन करनेके पश्चात् इसी चूलिकामें क्षायिकसम्यक्त्वकी उत्पत्तिका भी निरूपण किया गया है, जिसमें बतलाया गया है कि दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका प्रारम्भ कर्मभूमिमें उत्पन्न हुआ और सर्वप्रकारकी उपर्युक्त योग्यताका धारण करनेवाला मनुष्य सामान्य केवली, श्रुतकेवली और तीर्थंकर इन तीनोंमेंसे किसी एक के चरण-सान्निध्यमें रहकर करता है । इसका कारण यह है कि क्षायिकसम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिए जिस परम विशुद्धि और विशिष्ट देशनाकी आवश्यकता है, वह उनके अतिरिक्त अन्यत्र सम्भव नहीं है । दर्शनमोहकी क्षपणा करने के पूर्व उसका वेदकसम्यग्दृष्टि होना आवश्यक है । वह मिथ्यात्वका पहले क्षय करता है, तत्पश्चात् सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय करता है और उसके अनन्तर सम्यक्त्वप्रकृतिका क्षय करके क्षायिकसम्यग्दृष्टि बन जाता है । यदि इस सम्यक्त्वप्रकृतिका क्षय करते हुए किसीकी आयु समाप्त हो जाय तो थोड़ासा जो कार्य शेष रह गया है, वह चारों गतियोंमेंसे जहाँ भी उत्पन्न हो, वहाँ उसे सम्पन्न कर क्षायिकसम्यग्दृष्टि बन जाता है ।

यहां यह ध्यानमें रखना चाहिए कि सम्यक्त्व प्राप्तिके बाद यदि आयुबन्ध हो, तो नियमसे देवायुका ही बन्ध होता है। किन्तु यदि किसी जीवने मिथ्यात्वदशामें चारों गतियोंमेंसे किसी भी आयुका बन्ध कर लिया हो, और पीछे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाय, तो बंधी हुई आयु तो छूट नहीं सकती है, इसलिए उसे जाना तो उसी गतिमें पड़ता है, परन्तु सम्यक्त्वके माहात्म्य से वह पहले नरकसे नीचे नहीं उत्पन्न होगा। यदि तिर्यगायु बंध गई है, तो वह भोगभूमियां तिर्यच होगा। यदि मनुष्यायु बंधी है, तो वह भोगभूमियां मनुष्य होगा। और यदि देवायु बंधी है, तो वह कल्पवासी ही देव होगा। यदि कोई आयु नहीं बंधी है और वह चरमशरीरी है तो क्षायिकसम्यक्त्वकी प्राप्तिके पश्चात् वह सर्व कर्मोंकी क्षपणाके लिए उद्यत होता है और पुनः अधःकरणादि तीनों करणोंको करता और क्षपकश्रेणीपर चढ़ता हुआ दशवें गुणस्थानके अन्तमें मोहका क्षय करके क्षायिक चारित्रको प्राप्त करता है और अन्तर्मुहूर्तके भीतर ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका क्षय करके अनन्त चतुष्टय और नवकेवळ लब्धियोंका स्वामी अरहन्त बन जाता है और अन्तमें योग निरोध करके शेष अघातिया कर्मोंका भी क्षय करके परम पद मोक्षको प्राप्त हो जाता है।

९ गति-आगतिकूलिका

सर्व चूलिकाओंमें यह सबसे विस्तृत चूलिका है। विषय-वर्णनकी दृष्टिसे इसके चार विभाग किये जा सकते हैं। जिनमेंसे सर्वप्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके बाह्यी कारण किस गतिमें कौन-कौनसे सम्भव हैं, इसका विस्तारसे वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् चारों गतिके जीव मरण कर किस किस गतिमें जा सकते हैं और किस किस गतिसे किस किस गतिमें आ सकते हैं, इसका बहुत ही विस्तारसे वर्णन किया गया है। जिसका सार यह है कि देव मर कर देव नहीं हो सकता और न नारकी ही हो सकता है। इसी प्रकार नारकी जीव मर कर न नारकी हो सकता है और न देव ही। इन दोनों गतिके जीव मरण कर मनुष्य या तिर्यचगतिमें आते हैं और मनुष्य-तिर्यच ही मर कर इन दोनों गतियोंमें जाते हैं। हां, मनुष्यगतिके जीव मर कर चारों गतियोंमें जा सकते हैं और चारों गतिके जीव मरकर मनुष्यगतिमें आ सकते हैं। इसी प्रकार तिर्यचगतिके जीव मर कर चारों गतियोंमें जा सकते हैं और चारों ही गतियोंके जीव मर कर तिर्यचगतिमें आ सकते हैं। इसके पश्चात् यह बतलाया गया है कि किस गुणस्थानमें मरण कर कौनसी गतिका जीव किस किस गतिमें जा सकता है। इस प्रकरणमें अनेक ज्ञातव्य एवं महत्त्वपूर्ण बातों पर प्रकाश डाला गया है। जैसे कि कितने ही जीव मिथ्यात्वके साथ नरकमें जाते हैं और मिथ्यात्वके साथ ही निकलते हैं। कितने ही मिथ्यात्वके साथ जाते हैं और सासादनसम्यक्त्वके साथ निकलते हैं। कितने ही मिथ्यात्वके साथ नरकमें जाते हैं और सम्यक्त्वके साथ वहांसे निकलते हैं। इसी प्रकारसे शेष तीनों गतिके जीवोंकी गति-आगतिका निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् बतलाया गया है कि नरक और

देव इन गतियोंसे आये हुए जीव तीर्थंकर हो सकते हैं, अन्य गतियोंसे आये हुए नहीं। चक्रवर्ती, नारायण प्रतिनारायण और बलभद्र केवल देवगतिसे आये हुए जीव ही होते हैं, शेष गतियोंसे आये हुए नहीं। चक्रवर्ती मरण कर स्वर्ग, और नरक इन दो गतियोंमें जाते हैं और कर्मक्षय करके मोक्ष भी जाते हैं। बलभद्र स्वर्ग या मोक्षको जाते हैं। नारायण-प्रतिनारायण मरण कर नियमसे नरक ही जाते हैं, इत्यादि। तत्पश्चात् बतलाया गया है कि सातवें नरकका निकला जीव तिर्यंचही हो सकता है, मनुष्य नहीं। छठे नरकसे निकले हुए तिर्यंच और मनुष्य दोनों हो सकते हैं और उनमें भी कितनेही जीव सम्पक्त्व और संयमासंयम तक को धारण कर सकते हैं, पर संयमको नहीं। पांचवें नरकसे निकले हुए जीव मनुष्यभवमें संयमको भी धारण कर सकते हैं, पर उस भवसे मोक्ष नहीं जा सकते हैं। चौथे नरकसे निकले हुए जीव मनुष्य होकर और संयम धारण कर केवलज्ञानको उत्पन्न करते हुए निर्वाणको भी प्राप्त कर सकते हैं। तीसरे नरकसे निकले हुए जीव तीर्थंकर भी हो सकते हैं। इसी प्रकारसे शेष गतियोंसे आये हुए जीवोंके सम्पक्त्व, संयमासंयम, संयम और केवलज्ञान उत्पन्न कर सकने—न कर सकने आदिका बहुत उत्तम विवेचन करके इस चूलिकाको समाप्त किया गया है।

इस प्रकार नौ चूलिकाकी समाप्तिके साथ जीवस्थान नामक प्रथम खंड समाप्त होता है।

~~~~~

## द्वितीय खण्ड

### २ खुदाबन्ध ( क्षुद्रबन्ध )

षट्खण्डागमके इस दूसरे खण्डमें कर्म-बन्धक के रूपमें जीवकी प्ररूपणा जिन ग्यारह अनुयोगद्वारोंके द्वारा की गई है, उनके नाम इस प्रकार हैं— १ एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्व, २ एक जीवकी अपेक्षा काल, ३ एक जीवकी अपेक्षा अन्तर, ४ नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, ५ द्रव्यप्रमाणानुगम, ६ क्षेत्रानुगम, ७ स्पर्शनानुगम, ८ नाना जीवोंकी अपेक्षा काल, ९ नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर, १० भागाभागानुगम और ११ अल्पबहुत्वानुगम । इन अनुयोगद्वारोंके प्रारम्भमें भूमिकाके रूपमें बन्धकोंके सत्त्वकी प्ररूपणा की गई है और अन्तमें सभी अनुयोगद्वारोंकी चूलिकारूपसे अल्पबहुत्व-महादण्डक दिया गया है ।

कर्मोंका बन्ध करनेवाले जीवोंको बन्धक कहते हैं । इन बन्धक जीवोंकी प्ररूपणा चौदह मार्गणाओंके आश्रयसे की गई है कि किस गति आदि मार्गणाके कौन-कौनसे जीव कर्मका बन्ध करते हैं और कौन-कौनसे नहीं ? जैसे गतिमार्गणाका अपेक्षा सभी नारकी, तिर्यच और देव कर्मोंके बन्धक हैं । किन्तु मनुष्य कर्मोंके बन्धक भी हैं और अबन्धक भी हैं । इसका अभिप्राय यह है कि तेरहवें गुणस्थान तक योगका सद्भाव होनेसे कर्मणवर्गणाका आना होता है; उनका बन्ध भले ही एक समयकी स्थितिका क्यों न हो, पर आगमकी व्यवस्थासे वे भी बन्धक कहलाते हैं । किन्तु अयोगिकेवली भगवान् के योगका सर्वथा अभाव हो जाता है, इससे न उनके कर्मणवर्गणाओंका आश्रय है और न बन्ध ही है, अतः वे अबन्धक हैं । इन्द्रियमार्गणाकी अपेक्षा एकेन्द्रियसे लेकर चतुरिन्द्रिय तकके सभी जीव बन्धक हैं । पंचेन्द्रिय जीव बन्धक भी हैं और अबन्धक भी हैं । किन्तु अनिन्द्रिय या अतीन्द्रिय सिद्ध जीव अबन्धक ही हैं । इस प्रकार सभी मार्गणाओंमें बन्धक-अबन्धक जीवोंका विचार किया गया है ।

तत्पश्चात् एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्वका विचार करते हुए बतलाया गया है कि स मार्गणाके कौनसे गुण या पर्याय जीवके किन भावोंसे उत्पन्न होते हैं । इनमें सिद्धगति, अनिन्द्रियत्व, अकायत्व, अलेश्यत्व, अयोगत्व, क्षायिकसम्यक्त्व, केवलज्ञान और केवलदर्शन तो क्षायिकलब्धिसे उत्पन्न होते हैं । एकेन्द्रियादि पांचों जातियां, मन, वचन, काय ये तीनों योग, मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चारों ज्ञान; तीनों अज्ञान परिहारत्रिशुद्धिसंयम, चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शन, वेदकसम्यक्त्व सम्यग्मिथ्यादृष्टित्व और संज्ञित्वभावा ये क्षायोपशमिकलब्धिसे उत्पन्न होते हैं । अपगतवेद, अकषाय, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातसंयम ये औपशमिक तथा क्षायिकलब्धिसे उत्पन्न होते हैं । सामायिक और लेशोपस्थापनासंयम औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक लब्धिसे उत्पन्न होते हैं । औपशमिक सम्यग्दर्शन औपशमिक लब्धिसे उत्पन्न होता है । भव्यत्व,

अभव्यत्व और सासादनसम्यग्दृष्टित्व ये पारिणामिक भाव हैं। शेष गति आदि समस्त मार्गणान्तर्गत जीव पर्याय अपने अपने कर्मोंके उदयसे होते हैं। अनाहारकत्व कर्मोंके उदयसे भी होता है और क्षायिकलब्धिसे भी होता है।

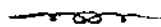
एकजीवकी अपेक्षा कालका वर्णन करते हुए गति आदि प्रत्येक मार्गणामें जीवकी जघन्य और उत्कृष्ट कालस्थितिका निरूपण किया गया है। जीवस्थानमें तो कालकी प्ररूपणा गुणस्थानोंमें एकजीव और नाना जीवोंकी अपेक्षासे की गई है, किन्तु यहांपर वह मार्गणाओंमें केवल एकजीवकी अपेक्षासे की गई है। इस कारण यहां कालकी प्ररूपणामें भवस्थितिके साथ कायस्थितिका भी निरूपण किया गया है। एक भवकी स्थितिको भवस्थिति कहते हैं और एक कायका परित्याग कियेविना अनेक भव-विषयक स्थितिको कायस्थिति कहते हैं। जैसे किसी एक त्रस जीवकी वर्तमानभवकी आयु अन्तर्मुहूर्तप्रमाण हैं, तो यह उसकी भवस्थिति है। और वह जीव त्रससे मर कर, त्रस, पुनः मर कर यदि लगातार त्रस होता हुआ चला जावे और स्थावर हो ही नहीं, तो वह उत्कर्षसे पूर्वकोटी वर्ष पृथक्त्वसे अधिक दो हजार सागरोपमकाल तक त्रस बना रह सकता है। यह उसकी कायस्थिति कहलायगी।

किस जीवकी कितनी भवस्थिति होती है और कितनी कायस्थिति होती है, यह सर्व कथन मनन करनेके योग्य है।

इस प्रकारसे इस खुदाबन्धमें शेष अनुयोगद्वारोंके द्वारा कर्मबन्ध करनेवाले जीवोंका प्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भागा-भाग और अल्पबहुत्वका खूब विस्तारके साथ वर्णन किया गया है। इसका अल्पबहुत्व तो अपूर्व ही है। जिसमें प्रत्येक मार्गणाका पृथक् पृथक् अल्पबहुत्व बतलाकर अन्तमें महादण्डके रूपमें समुच्चयरूपसे भी सर्व मार्गणाओंके जीव-संख्याकी हीनाधिकताका प्रतिपादन किया गया है।

इस खुदाबन्धके अल्पबहुत्वानुगममें प्रायः प्रत्येक मार्गणाका जो अनेक प्रकारसे अल्पबहुत्व बतलाया गया है, उसका कारण अन्वेषणीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि आ. भूतबलिने पहले अपनी गुरुपरम्परासे प्राप्त हुए अल्पबहुत्वका वर्णन किया है और तत्पश्चात् अन्य आचार्योंकी परम्परासे प्राप्त अल्पबहुत्वका भी उन्होंने प्रतिपादन करना समुचित समझा है।

इतने विस्तृत वर्णनवाले इस खण्डके स्वाव्याय करनेपर पाठकोंको यह शंका हो सकती है कि इतना विस्तृत होते हुए भी इसका नाम क्षुद्रबन्ध क्यों पड़ा ? इसका समाधान यह है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के छोटे खण्डमें आ. भूतबलिने बन्धका विचार बहुत विस्तारसे किया है, और इस लिए उसका नाम भी महाबन्ध पड़ा है, उसका परिमाण तीस हजार श्लोक जितना है। उसकी अपेक्षा यह दूसरा खण्ड क्षुद्र अर्थात् छोटा ही है, अतः इसका नाम खुदाबन्ध रखा गया है।





## तीसरा खण्ड

### ३ बन्धस्वामित्वविचय

इस खण्डमें कर्मोंकी विभिन्न प्रकृतियोंके बन्ध करनेवाले स्वामियोंका विचय अर्थात् विचार किया गया है, अत एव बन्धस्वामित्वविचय यह नाम सार्थक है।

इस खण्डमें सर्वप्रथम गुणस्थानोंका आश्रय लेकर बतलाया गया है कि किस कर्मकी किस किस प्रकृतिका बन्ध करनेवाले जीव किस गुणस्थान तक पाये जाते हैं और कहांपर उस प्रकृतिका बन्धविच्छेद हो जाता है। जैसे ज्ञानावरणकी पांचों प्रकृतियां और दर्शनावरणकी चक्षुदर्शनावरणादि चार प्रकृतियां, यशः कीर्ति, उच्चगोत्र और अन्तरायकी पांचों प्रकृतियां इन सोलह प्रकृतियोंके बन्ध करनेवाले जीव पहिले गुणस्थानसे लेकर दशवें गुणस्थान तक पाये जाते हैं। दशवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें इन सबके बन्धका विच्छेद हो जाता है। अतः दशवें गुणस्थान तक के जीव इन सोलह प्रकृतियोंके बन्धके स्वामी हैं। इससे ऊपरके गुणस्थानवर्ती जीव अबन्धक हैं। इस प्रकार बन्धने योग्य सभी प्रकृतियोंका वर्णन किया गया है कि अमुक अमुक गुणस्थान तक इन-इनका बन्ध होता है और इससे आगे नहीं होता है।

इस प्रकरणको मक्षेपमें दूसरे प्रकारसे यों कहा जा सकता है कि अभेदविवक्षासे आठों कर्मोंकी १४८ प्रकृतियोंमें १२० ही बन्ध योग्य हैं, शेष नहीं। इसका कारण यह है कि पांच बन्धन और पांच संघात ये दश प्रकृतियां अपने अपने शरीरके साथ अवश्य बन्धती हैं, अतः उनका अन्तर्भाव शरीरमें कर लेनेसे १० प्रकृतियां तो ये कम हो जाती हैं। इसी प्रकार पांच रूप, पांच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श इन बीसको रूप, रस, गन्ध, स्पर्श सामान्यकी विवक्षासे चार ही गिन लेते हैं, अतः १६ ये कम हो जाती हैं। दर्शनमोहनीयकी सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिका बन्ध नहीं होता है, केवल उदय और सत्त्व ही होता है, अतः २ प्रकृतियां ये कम हो जाती हैं। इस प्रकार ( ५ + ५ + १६ + २ = २८ ) अट्ठाईस प्रकृतियोंको १४८ मेंसे घटा देनेपर शेष १२० प्रकृतियां ही बन्धके योग्य रहती हैं।

उनमेंसे १ मिथ्यात्व, २ हुण्डकसंस्थान, ३ नपुंसकवेद, ४ सृष्टिकासंहनन, ५ एकेन्द्रियजाति, ६ स्थावर, ७ आतप, ८ सूक्ष्म, ९ साधारण, १० अपर्याप्त, ११ द्वीन्द्रियजाति, १२ त्रीन्द्रियजाति, १३ चतुरिन्द्रियजाति, १४ नरकगति, १५ नरकगत्यानुपूर्वी, १६ नरकायु इन सोलह प्रकृतियोंका बन्ध प्रथम गुणस्थान तक ही होता है, आगे नहीं। अतः इनके बन्धक-स्वामी मिथ्यादृष्टि जीव ही होते हैं, इससे ऊपरके जीव अबन्धक हैं।

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय, स्थानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला ये तीन निद्रा, दुर्भग, दुःस्वर; अनादेय ये तीन, न्यग्रोधपरिमंडल आदि चार

संस्थान, वज्रनाराचादि चार संहनन, अप्रशस्त विहायोगति, स्त्रीवेद, नीचगोत्र, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, तिर्यगायु और उद्योत इन पच्चीस प्रकृतियोंके बन्धके स्वामी मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि हैं। दूसरे गुणस्थानसे ऊपर के जीव इनके अबन्धक हैं।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय, वज्रवृषभनाराचसंहनन, औदारिकशरीर, औदारिक-अंगोपांग, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और मनुष्यायु इन दशप्रकृतियोंके बन्धक मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि हैं। चौथे गुणस्थानसे ऊपरके जीव अबन्धक हैं।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंके बन्धक पहले गुणस्थानसे लेकर पांचवें गुणस्थान तक के जीव हैं। इससे ऊपरके जीव अबन्धक हैं।

अस्थिर, अशुभ, असातावेदनीय, अयशस्कीर्त्ति, अरति और शोक इन छह प्रकृतियोंके बन्धक पहिलेसे लेकर सातवें गुणस्थान तक के जीव हैं। इससे ऊपरके जीव अबन्धक हैं।

देवायुके बन्धक पहिलेसे लेकर सातवें गुणस्थान तक के जीव हैं, इससे ऊपर के जीव अबन्धक हैं।

निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोंके बन्धक पहिलेसे लेकर आठवें गुणस्थानके प्रथम भाग तक के जीव बन्धक हैं। इससे आगेके जीव अबन्धक हैं। तीर्थंकर प्रकृति, निर्माण, प्रशस्त-विहायोगति, पंचेन्द्रियजाति, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, आहारकशरीर, आहारक-अंगोपांग, समचतुरस्र-संस्थान, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिक-अंगोपांग, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर और आदेय; इन तीस प्रकृतियोंके बन्धक प्रथम गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थानके छठे भाग तक के जीव बन्धक होते हैं। इससे आगे के जीव अबन्धक होते हैं। हास्य, रति, भय और जुगुप्सा, इन चार प्रकृतियोंके बन्धक पहिलेसे लेकर आठवें गुणस्थानके अन्तिम समय तक के जीव होते हैं। इससे आगेके जीव अबन्धक होते हैं।

पुरुषवेद, संञ्चलन क्रोध, मान, माया और लोभ इन पांच प्रकृतियोंके बन्धक मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर नवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम भाग तक के जीव होते हैं। इससे आगेके जीव अबन्धक होते हैं।

ज्ञानावरणकी पांचों प्रकृतियां, दर्शनावरणकी चक्षुदर्शनावरणादि चार प्रकृतियां, अन्तरायकी पांचों प्रकृतियां, यशस्कीर्त्ति और उच्चगोत्र इन सोलह प्रकृतियोंके बन्धक पहिलेसे लेकर दशवें गुणस्थान तक के संयत जीव होते हैं। इससे आगेके जीव अबन्धक होते हैं।

सातावेदनीयके बन्धक मिथ्यादृष्टिसे लेकर तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान तक के जीव होते हैं। अयोगिकेवली अबन्धक हैं।

जिस प्रकारसे गुणस्थानोंकी अपेक्षा यह बन्धके स्वामियोंका विचार किया है, इसी प्रकारसे मार्गणस्थानोंकी अपेक्षा उनमें सम्भव गुणस्थानोंके आश्रयसे सभी कर्म प्रकृतियोंके बन्धक स्वामियोंका विचार बहुत विस्तारके साथ प्रस्तुत खण्डमें किया गया है।

## महाकर्मप्रकृति प्राभृत

### [ वेदनाखण्ड ]

बारहवें दृष्टिवाद अंकके पांच भेदोंमें जो पूर्वगत नामका चौथा भेद है, उसके भी चौदह भेद हैं। उनमें दूसरे पूर्वका नाम अग्रायणी पूर्व है। उसके वस्तुनामक चौदह अधिकारोंमेंसे पांचवें का नाम चयनलब्धि है। उसके बीस प्राभृतोंमेंसे चौथा प्राभृत महाकर्म प्रकृति प्राभृत है। उसके चौबीस अधिकार हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं— १ कृति, २ वेदना, ३ स्पर्श, ४ कर्म, ५ प्रकृति, ६ बन्धन, ७ निबन्धन, ८ प्रक्रम, ९ उपक्रम, १० उदय, ११ मोक्ष, १२ संकम, १३ लेश्या, १४ लेश्याकर्म, १५ लेश्यापरिणाम, १६ सातासात, १७ दीर्घ ह्रस्व, १८ भवधारणीय, १९ पुद्गलात्त (पुद्गलात्म) २० निधत्त-अनिधत्त, २१ निकाचित-अनिकाचित, २२ कर्मस्थिति, २३ पश्चिमस्कन्ध और २४ अल्पबहुत्व। इन अधिकारोंका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

**१. कृति-अनुयोगद्वार—** इसमें औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीरोंकी संघातन, परिशातन और संघातन-परिशातनरूप कृतियोंकी, तथा भवके प्रथम, अप्रथम और चरम समयमें स्थित जीवोंकी कृति, नोकृति और अवक्तव्यरूप संख्याओंका वर्णन है।

**२. वेदना-अनुयोगद्वार—** इसमें वेदना संज्ञावाले कर्मपुद्गलोंकी वेदनानिक्षेप आदि सोलह अधिकारोंसे प्ररूपणा की गई है। इसी अधिकारका आ. भूतबलिने विस्तारके साथ वर्णन किया है। इसीसे इसका 'वेदनाखण्ड' यह नाम प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ है। आगे इसका कुछ विस्तारसे परिचय दिया जायगा।

**३. स्पर्श-अनुयोगद्वार—** इसमें स्पर्शगुणके सम्बन्धसे प्राप्त हुए स्पर्शनाम, स्पर्श निक्षेप आदि सोलह अधिकारोंके द्वारा ज्ञानावरणादिके भेदसे आठ भेदको प्राप्त हुए कर्म-पुद्गलोंका वर्णन है।

**४. कर्म-अनुयोगद्वार—** इसमें कर्मनिक्षेप आदि सोलह अधिकारोंके द्वारा ज्ञान, दर्शनादि गुणोंके आवरण आदि कार्योंके करनेमें समर्थ होनेसे 'कर्म' इस संज्ञाको प्राप्त पुद्गलोंका विवेचन है।

५. प्रकृति-अनुयोगद्वार— इसमें प्रकृतिनिक्षेप आदि सोलह अधिकारोंके द्वारा कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंके स्वरूप और भेदादिका विस्तारसे वर्णन है ।

६. बन्धन-अनुयोगद्वार— इसके बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्ध-विधान ये चार अधिकार हैं । उनमेंसे बन्ध-अधिकारमें जीव और कर्म-प्रदेशोंके सादि और अनादिरूप बन्धका वर्णन है । बन्धक अधिकारमें कर्म-बन्ध करनेवाले जीवोंका स्वामित्व आदि ग्यारह अनुयोगद्वारोंसे विवेचन है । प्रस्तुत ग्रन्थका दूसरा खण्ड खुदाबन्ध इसी अधिकारसे सम्बन्ध है । बन्धनीय अधिकारमें कर्म-बन्धके योग्य पुद्गलवर्गणाओंका विस्तारसे विवेचन किया गया है, जिसके कारण वह प्रकरण वर्गणाखण्डके नामसे प्रसिद्ध हुआ है । इस खण्डका विशेष परिचय आगे दिया जा रहा है । बन्धविधान अधिकारके प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध ये चार भेद हैं । इनका विस्तारसे वर्णन महाबन्ध नामके छठे खण्डमें किया गया है ।

७. निबन्धन-अनुयोगद्वार— इसमें मूलकर्मों और उनकी उत्तर प्रकृतियोंके निबन्धनका वर्णन है । जैसे चक्षुरिन्द्रिय अपने विषयभूत रूपमें निबद्ध है, श्रोत्रेन्द्रिय शब्दमें निबद्ध है उसी प्रकार ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म सर्व द्रव्योंमें निबद्ध है, सर्व पर्यायोंमें निबद्ध नहीं है, वेदनीयकर्म सुख-दुःखमें निबद्ध है, मोहनीयकर्म सम्यक्त्व-चारित्ररूप आत्म-स्वभावके घातनेमें निबद्ध है, आयुर्कर्म भवधारणमें निबद्ध है, नामकर्म पुद्गलविपाकनिबद्ध है, जीवविपाकनिबद्ध है, और क्षेत्र विपाक निबद्ध है, गोत्रकर्म ऊंच-नीच रूप जीवकी पर्यायसे निबद्ध है और अन्तराय कर्म दानादिके विघ्न करनेमें निबद्ध है । इसी प्रकार उत्तर प्रकृतियोंकेभी निबन्धनका विचार इस अनुयोगद्वारमें किया गया है ।

८. प्रक्रम-अनुयोगद्वार— जो वर्गणास्कन्ध अभी कर्मरूपसे परिणत नहीं हैं, किन्तु आगे चलकर जो मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृतिरूपसे परिणमन करनेवाले हैं, तथा जो प्रकृति, स्थिति और अनुभागकी विशेषतासे वैशिष्ट्यको प्राप्त होते हैं ऐसे कर्मवर्गणास्कन्धोंके प्रदेशोंका इस अनुयोगद्वारमें वर्णन किया गया है ।

९. उपक्रम-अनुयोगद्वार— इसमें बन्धनोपक्रम, उदीरणोपक्रम, उपशामनोपक्रम और विपरिणामोपक्रमरूप चार प्रकारके उपक्रमका वर्णन किया गया है । बन्धनोपक्रममें कर्मबन्ध होनेके दूसरे समयसे लेकर प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंके बन्धका वर्णन है । उदीरणोपक्रममें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशोंकी उदीरणाका वर्णन है । उपशामनोपक्रममें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशोंकी प्रशस्तोपशामनाका कथन है । विपरिणामोपक्रममें प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेशोंकी देशनिर्जरा और सकलनिर्जराका कथन है ।

१०. **उदय-अनुयोगद्वार**— इसमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशोंके उदयका वर्णन है।

११. **मोक्ष-अनुयोगद्वार**— इसमें देशनिर्जरा और सकलनिर्जराके द्वारा परप्रकृति-संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण और स्थितिगलनसे प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धका आत्मासे भिन्न होनेरूप मोक्षका वर्णन किया गया है।

१२. **संक्रम-अनुयोगद्वार**— इसमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशोंके संक्रमणका वर्णन किया गया है।

१३. **लेश्या-अनुयोगद्वार**— इसमें कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल इन छह द्रव्यलेश्याओंका वर्णन है।

१४. **लेश्याकर्म-अनुयोगद्वार**— इसमें अन्तरंग छह भावलेश्याओंसे परिणत जीवोंके बाह्य कार्योंका प्रतिपादन किया गया है।

१५. **लेश्यापरिणाम-अनुयोगद्वार**— कौनसी लेश्या किस प्रकारकी वृद्धि और हानिसे परिणत होती है, इस बातका विवेचन इस अधिकारमें किया गया है।

१६. **सातासात-अनुयोगद्वार**— इसमें एकान्त सात, अनेकान्त सात, एकान्त असात और अनेकान्त असातका चौदह मार्गणाओंके आश्रयसे वर्णन किया गया है। जो कर्म सातारूपसे बद्ध होकर यथावस्थित रहते हुए वेदा जाता है, वह एकान्त सातकर्म है और इससे अन्य अनेकान्त सातकर्म है। इसी प्रकार जो कर्म असातारूपसे बद्ध होकर यथावस्थित रहते हुए वेदा जाता है, वह एकान्त असातकर्म है और इससे अन्य अनेकान्त असातकर्म है।

१७. **दीर्घ-ऋस्व-अनुयोगद्वार**— इसमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्धका आश्रय लेकर उनकी दीर्घता और ऋस्वताका विवेचन किया गया है। आठों मूल प्रकृतियोंके बन्ध होनेपर प्रकृतिदीर्घ और उससे कम प्रकृतियोंका बन्ध होनेपर नो प्रकृतिदीर्घ कहलाता है। इसी प्रकार एक प्रकृतिके बन्ध होनेपर प्रकृतिऋस्व और उससे अधिकका बन्ध होनेपर नो प्रकृतिऋस्व होता है। इसी प्रकार स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्धकी मूल और उत्तर प्रकृतिगत दीर्घता और ऋस्वता जानना चाहिए।

१८. **भवधारणीय-अनुयोगद्वार**— इसमें ओघभव, आदेशभव और भवग्रहणभवके भेदसे भवके तीन भेदोंका विस्तारसे विवेचन किया गया है। आठ कर्म और आठ कर्मोंके निमित्तसे उत्पन्न हुए जीवके परिणामको ओघभव कहते हैं। चार गतिनामकर्म और उनसे उत्पन्न हुए जीवके

परिणामको आदेशभव कहते हैं। मुख्यमान आयु गलकर नई आयुका उदय होनेपर प्रथम समयमें उपन हुए जीवके परिणामको या पूर्व शरीरका परित्यागकर नवीन शरीरके धारण करनेको भवग्रहण भव कहते हैं। यह भव आयुकर्मके द्वारा धारण किया जाता है, अतः आयुकर्म भवधारणीय कहलाता है।

**१९. पुद्गलात्त या पुद्गलात्म-अनुयोगद्वार-** इसमें बतलाया गया है कि जीव ग्रहणसे, परिणामसे, उपभोगसे, आहारसे, ममत्त्वसे और परिग्रहसे पुद्गलोंको आत्मसात् करता है। अर्थात् हस्त-पाद आदिसे ग्रहण किये गये दण्ड-छत्रादिरूप पुद्गल ग्रहणसे आत्तपुद्गल हैं। मिथ्यात्व आदि परिणामोंसे आत्मसात् किये गये पुद्गल परिणामसे आत्तपुद्गल हैं। उपभोगसे अपनाये गये गन्ध-ताम्बूल आदि पुद्गल उपभोगसे आत्तपुद्गल हैं। खान-पानके द्वारा अपनाये गये पुद्गल आहारसे आत्तपुद्गल हैं। अनुरागसे ग्रहण किये गये पुद्गल ममत्त्वसे आत्तपुद्गल हैं। और अपने अधीन किये गये पुद्गल परिग्रहसे आत्तपुद्गल हैं। इन सबका विस्तारसे वर्णन इस अनुयोगद्वारमें किया गया है। अथवा पुद्गलात्त का अर्थ पुद्गलात्मा भी होता है। कर्मवर्गणारूप पुद्गलके सम्बन्धसे कथंचित्, पुद्गलत्व या मूर्तत्वको प्राप्त हुए संसारी जीवोंका वर्णन इस अनुयोगद्वारमें किया गया है।

**२०. निधत्त-अनिधत्त-अनुयोगद्वार-** इसमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशोंकी निधत्त और अनिधत्तरूप अवस्थाका प्रतिपादन किया है। जिस प्रदेशाग्रका उत्कर्षण और अपकर्षण तो होता है, किन्तु उदीरणा और अन्य प्रकृतिरूपसे संक्रमण नहीं होता, उसकी निधत्तसंज्ञा है। इससे विपरीत लक्षणवाले प्रदेशाग्रोंकी अनिधत्तसंज्ञा है। इस विषयमें यह अर्थपद है कि दर्शन-मोहकी उपशामना या क्षपणा करते समय अनिवृत्तिकरणके कालमें केवल दर्शनमोहनीयकर्म अनिधत्त हो जाता है। अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करते समय अनिवृत्तिकरणके कालमें अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क अनिधत्त हो जाता है। इसी प्रकार चारित्रमोहकी उपशामना और क्षपणा करते समय अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें सब कर्म अनिधत्त हो जाते हैं। ऊपर निर्दिष्ट अपने-अपने स्थानके पूर्व दर्शनमोह, अनन्तानुबन्धी चतुष्क और शेष सब कर्म निधत्त और अनिधत्त दोनों प्रकारके होते हैं।

**२१. निकाचित-अनिकाचित-अनुयोगद्वार-** इसमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशोंकी निकाचित और अनिकाचित अवस्थाओंका वर्णन किया गया है। जिस प्रदेशाग्रका उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदीरणा न की जा सके उसे निकाचित कहते हैं और इससे विपरीत स्वभाववाले प्रदेशाग्रोंको अनिकाचित कहते हैं। इस विषयमें यह अर्थपद है कि अनिवृत्तिकरणमें प्रवेश करनेपर सब कर्म अनिकाचित हो जाते हैं। किन्तु उसके पहले वे निकाचित और अनिकाचित दोनों प्रकारके होते हैं।

**२२. कर्मस्थिति-अनुयोगद्वार-** इसमें सर्व कर्मोंकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिका तथा उत्कर्षण और अपकर्षणसे उत्पन्न हुई कर्मस्थितिका वर्णन किया गया है ।

**२३. पश्चिमस्कन्ध-अनुयोगद्वार-** इसमें पश्चिम अर्थात् चरमभवमें केवलि-समुद्घातके समय सत्त्वरूपसे अवस्थित कर्मस्कन्धोंके स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, योगनिरोध और कर्मक्षपणका वर्णन किया गया है ।

**२४. अल्पबहुत्व-अनुयोगद्वार-** इसमें पूर्वोक्त सर्व अनुयोगद्वारोंके आश्रयसे जीवोंके अल्पबहुत्व का वर्णन किया गया है ।

### ४ वेदनाखण्ड

ऊपर महाकर्मप्रकृति प्राभृतके जिन २४ अनुयोगद्वारोंका परिचय दिया गया है, उनमेंसे भूतबलि आचार्यने आदिके केवल ६ अनुयोगद्वारोंका ही वर्णन किया है, शेषका नहीं । इन छह अनुयोगद्वारोंमें वेदना नामक दूसरे अनुयोगका विस्तारसे वर्णन करनेके कारण यह अनुयोगद्वार एक स्वतन्त्र खण्ड के नामसे प्रसिद्ध हुआ है । यतः कृति अनुयोगद्वार इससे पूर्वमें वर्णित है, अतः वह भी वेदनाखण्डके ही अन्तर्गत मान लिया गया है ।

इस वेदना अधिकारका वर्णन जिन १६ अनुयोगद्वारोंसे किया गया है, उनके नाम इस प्रकार हैं— १ वेदनानिक्षेप, २ वेदनानयविभाषणता, ३ वेदनानामविधान, ४ वेदनाद्रव्यविधान, ५ वेदनाक्षेत्रविधान, ६ वेदना-कालविधान, ७ वेदना-भावविधान, ८ वेदनाप्रत्ययविधान, ९ वेदना-स्वामित्वविधान, १० वेदनावेदनविधान, ११ वेदनागतिविधान, १२ वेदना-अन्तरविधान, १३ वेदना-सन्निकर्षविधान, १४ वेदना-परिमाणविधान, १५ वेदना-भागाभागविधान और १६ वेदना-अल्पबहुत्व ।

१. वेदनानिक्षेप-अनुयोगद्वारमें वेदनाका निक्षेप नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप चार प्रकारसे करके बतलाया गया है कि प्रकृतमें नो आगमकर्मवेदनासे प्रयोजन है । २. वेदनानयविभाषणता-अनुयोगद्वारमें विभिन्न नयोंके आश्रयसे वेदनाका वर्णन किया गया है । यथा— द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा बन्ध, उदय और सत्त्वरूप वेदना अभीष्ट है ! ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा उदयको प्राप्त कर्मद्रव्यवेदना अभीष्ट है, इत्यादि । ३. वेदनानामविधानमें बन्ध, उदय और सत्त्वरूपसे जीवमें स्थित कर्मस्कन्धमें किस नयका कहां कैसा प्रयोग होता है, इस बातका वर्णन किया गया है । ४. वेदनाद्रव्यविधानमें बतलाया गया है कि वेदनाद्रव्य एक प्रकारका नहीं है, किन्तु अनेक प्रकारका है । तथा वेदनारूपसे परिणत पुद्गलस्कन्ध संख्यात या असंख्यात परमाणुओंके पुंजरूप नहीं हैं, किन्तु अभव्योंसे अनन्तगुणित और सिद्धोंके अनन्तवे भागप्रमाण अनन्त परमाणुओंके समुदायरूप हैं । ५. वेदनाक्षेत्रविधानमें बतलाया गया है कि वेदनाद्रव्यकी अवगाहनाका क्षेत्र

लोकाकाशके संख्यात प्रदेशप्रमाण नहीं है, किन्तु असंख्यात प्रदेशप्रमाण है, वह अंगुलके असंख्यातवे भागसे लेकर घनलोक तक सम्भव है । ६. वेदनाकालविधानमें बतलाया गया है कि वेदनाद्रव्यस्कन्ध अपने वेदनास्वभावके साथ जघन्य और उत्कृष्ट रूपसे इतने काल तक जीवके साथ रहते हैं । ७. वेदनाभावविधानमें बतलाया गया है कि वेदनासम्बन्धी भावविकल्प संख्यात, असंख्यात या अनन्त नहीं है, किन्तु अनन्तानन्त है । ८. वेदनाप्रत्ययविधानमें वेदनाके कारणोंका वर्णन किया गया है । ९. वेदनास्वामित्वविधानमें वेदनाके स्वामियोंका विधान किया गया है । १०. वेदनावेदनविधानमें बध्यमान, उदीर्ण और उपशान्तरूप प्रकृतियोंके भेदसे जो वेदनाके भेद प्राप्त होते हैं, उनका नयोंके आश्रयसे ज्ञान कराया गया है । ११. वेदनागतिविधानमें वेदनाकी स्थित, अस्थित और स्थितास्थित गति का वर्णन किया गया है । १२. वेदना-अन्तरविधानमें अनन्तरबन्ध, परम्पराबन्ध और तदुभयबन्धरूप समयप्रबद्धोंका निरूपण किया गया है । १३. वेदनासन्निकर्षविधानमें द्रव्यवेदना, क्षेत्रवेदना, कालवेदना और भाववेदनाके उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य पदोंमेंसे एक एक को विवक्षित कर शेष पदोंका उसके साथ सन्निकर्ष वर्णन किया गया है । १४. वेदनापरिमाणविधानमें काल और क्षेत्रके भेदसे मूल और उत्तर प्रकृतियोंके प्रमाणका वर्णन किया गया है । १५. वेदनाभागाभागविधानमें प्रकृत्यर्थता, स्थित्यर्थता ( समय-प्रबद्धार्थता ) और क्षेत्रप्रत्याश्रयकी अपेक्षा उत्पन्न हुई प्रकृतियां सब प्रकृतियोंके कितनेवें भागप्रमाण हैं, यह बतलाया गया है । १६. वेदना-अल्पबहुत्व-अनुयोगद्वारमें इन्हीं तीन प्रकारकी प्रकृतियोंका पारस्परिक अल्पबहुत्व बतलाया गया है । इस प्रकार सोलह अनुयोगद्वारोंके विषयका यह संक्षिप्त परिचय है । इनमेंसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव वेदनाओंके स्वामियोंका परिज्ञान अधिक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण है, अतः उसका कुछ विवेचन किया जाता है ।

### वेदना द्रव्यस्वामित्व

आयुर्कर्मको छोड़कर शेष ज्ञानावरणादि सात कर्मोंकी उत्कृष्ट द्रव्यवेदनाका स्वामी गुणितकर्मांशिक जीव बतलाया गया है । जिस जीवके विवक्षित कर्मद्रव्यका संचय उत्तरोत्तर गुणित-क्रमसे बढ़ता जावे, उसे गुणितकर्मांशिक कहते हैं । इसका खुलासा यह है कि जो जीव बादर पृथ्वीकायिकोंमें साधिक दो हजार सागरोपमोंसे हीन कर्मस्थिति... ( सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम ) प्रमाण काल तक रहा है, उनमें परिभ्रमण करता हुआ जो पर्याप्तोंमें बहुत बार और अपर्याप्तोंमें थोड़े बार उत्पन्न होता है ( भवावास ) । पर्याप्तोंमें उत्पन्न होता हुआ दीर्घ आयुवालोंमें, तथा अपर्याप्तोंमें उत्पन्न होता हुआ अल्प आयुवालोंमें ही जो उत्पन्न होता है ( अद्धावास ) । दीर्घ आयुवालोंमें उत्पन्न होकरके जो सर्व लघुकालमें पर्याप्तियोंको पूर्ण करता है और जब जब वह आयुको बांधता है, तब तब तत्प्रायोग्य जघन्य योगके द्वारा ही बांधता है ( आयु आवास ) । जो उपरिम स्थितियोंके निषेकके उत्कृष्ट पदको और अधस्तन स्थितियोंके निषेकके जघन्य पदको करता



है ( उत्कर्षणापकर्षण आवास ) । जो बहुत बार उत्कृष्ट योगस्थानोंको प्राप्त होता है ( योगावास ) । जो बहुत बार मन्द संक्लेश परिणामोंको प्राप्त होता है ( संक्लेशावास ) । इस प्रकार परिभ्रमण करनेके पश्चात् जो बादर त्रस पर्याप्त जीवोंमें उत्पन्न हुआ है । उनमें परिभ्रमण करते हुए जो पूर्वोक्त भवावास, अद्धावास, आयु-आवास, उत्कर्षणापकर्षणावास, योगावास और संक्लेशावासको बहुत बार प्राप्त होता है । इस प्रकारसे परिभ्रमण करता हुआ जो अन्तिम भवग्रहणमें सातवीं पृथ्वीके नारकियोंमें उत्पन्न होकरके प्रथम समयवर्ती आहारक और प्रथम समयवर्ती तद्रवस्थ होते हुए जो उत्कृष्ट योगसे आहारको ग्रहण करता है, उत्कृष्ट वृद्धिसे वृद्धिगत होता है, सर्व लघु अन्तर्मुहूर्तकालमें जो सर्व पर्याप्तियोंसे पर्याप्त होता है । पश्चात् तेतीस सागरोपम काल तक वहां रहते हुए बहुत बहुत बार उत्कृष्ट योगस्थानोंको, तथा बार बार अतिसंक्लेश परिणामोंको प्राप्त होता है । इस प्रकारसे आयु व्यतीत करते हुए जीवनके अल्प अवशिष्ट रह जानेपर जो योगयवमध्यके ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है, अन्तिम जीवगुणहानिस्थानान्तरमें जो आवलीके असंख्यातवें भाग काल तक रहता है, जो द्विचरम और त्रिचरम समयमें उत्कृष्ट संक्लेशको प्राप्त होता है, तथा चरम और द्विचरम समयमें जो उत्कृष्ट योगको प्राप्त होता है, ऐसे उस नारक भवके अन्तिम समयमें स्थित जीवको गुणितकर्माशिक कहते हैं । उसके ज्ञानावरणादि सात कर्मोंकी उत्कृष्ट द्रव्यवेदना होती है । कहनेका अभिप्राय यह है कि उक्त जीवके उतने काल तक कर्मरूपद्रव्यका संचय उत्तरोत्तर क्रमसे बढ़ता ही जाता है और अन्तिम समयमें उसके ज्ञानावरणादि सात कर्मोंका वेदनाका द्रव्य सर्वोत्कृष्ट पाया जाता है ।

आयुर्कर्मकी उत्कृष्ट द्रव्यवेदनाके स्वामीकी प्ररूपणा करते हुए बतलाया गया है कि पूर्वकोटी वर्षप्रमाण आयुका धारक जो जीव जलचर जीवोंमें पूर्वकोटीप्रमाण आयुको दीर्घ आयुबन्धक काल, तत्प्रायोग्य संक्लेश और तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट योगकेद्वारा बान्धता है, योगयवमध्यके ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल रहा है, अन्तिम जीवगुणहानिस्थानान्तरमें आवलीके असंख्यातवें भाग रहा है, तत्पश्चात् क्रमसे मरणकर पूर्वकोटीकी आयुवाले जलचरजीवोंमें उत्पन्न हुआ है, वहांपर सर्वलघु अन्तर्मुहूर्तमें सब पर्याप्तियोंसे पर्याप्त हुआ है, दीर्घ आयुबन्धककालमें तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट योगके द्वारा पूर्वकोटीप्रमाण आयुको पुनः दूसरी बार बांधता है, योगयवमध्यके ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है, अन्तिम गुणहानिस्थानान्तरमें आवलीके असंख्यातवें भाग काल तक रहता है, जो तथा बहुत बहुत बार सातावेदनीयके बन्ध-योग्य कालसे संयुक्त हुआ है, ऐसे जीवके अनन्तर समयमें जब परभव-सम्बन्धी आयुके बन्धकी समाप्ति होती है, उस समय उसके आयुर्कर्मकी उत्कृष्ट द्रव्यवेदनासे होती है । सभी कर्मोंकी उत्कृष्ट द्रव्यवेदनासे भिन्न अनुत्कृष्ट द्रव्यवेदना जाननी चाहिए ।

ज्ञानावरणीयकर्मकी जघन्य द्रव्यवेदनाका स्वामी क्षपितकर्माशिक जीव बतलाया गया है । जिस जीवके विवक्षित कर्मद्रव्यका संचय उत्तरोत्तर क्षय होते हुए सबसे कम रह जावे, उसे

क्षपितकर्माशिक कहते हैं। इसका खुलासा यह है कि जो जीव पल्योपमके असंख्यातवें भागसे हीन कर्मस्थितिप्रमाणकाल तक सूक्ष्मनिगोदिया जीवोंमें रहा है, उसमें परिभ्रमण करते हुए जो अपर्याप्तोंमें बहुत बार और पर्याप्तोंमें थोड़े ही बार उत्पन्न हुआ है, जिसका अपर्याप्तकाल बहुत और पर्याप्तकाल थोड़ा रहा है, वह जब जब आयुको बांधता है, तब तब तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट योगसे बांधता है, उपरिम स्थितियोंके निषेकके जघन्य पदको और अधस्तन स्थितियोंके निषेकके उत्कृष्ट पदको करता है, बार बार जघन्य योगस्थानको प्राप्त होता है, बार बार मन्द संकेशरूप परिणामोंसे परिणत होता है। इस प्रकारसे निगोदिया जीवोंमें परिभ्रमण करके पश्चात् जो बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्तोंमें उत्पन्न होकर वहां सर्वलघु अन्तर्मुहूर्तकालमें सब पर्याप्तियोंसे पर्याप्त हुआ है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्तमें मरणको प्राप्त होकर जो पूर्वकोटीकी आयुवाले मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ है, वहांपर जितने गर्भसे निकलनेके पश्चात् आठ वर्षका होकर संयमको धारण किया है, कुछ कम पूर्वकोटीवर्षतक संयमका पालन करके जीवनके स्वल्प शेष रह जानेपर मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ है, जो मिथ्यात्वसम्बन्धी सबसे कम असंयमकालमें रहा है, तत्पश्चात् मिथ्यात्वके साथ मरणको प्राप्त होकर जो दश हजार वर्षकी आयुवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ है, वहांपर जो सबसे छोटे अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा सब पर्याप्तियोंसे पर्याप्त हुआ है, पश्चात् अन्तर्मुहूर्तमें जो सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ है। इस प्रकार उस देवपर्यायमें कुछ कम दश हजार वर्ष तक सम्यक्त्वका परिपालन कर जीवनके स्वल्प शेष रह जानेपर पुनः मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ है और मिथ्यात्वके साथ मरणकर जो पुनः बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्तोंमें उत्पन्न हुआ है, वहांपर सर्वलघु अन्तर्मुहूर्त कालमें सब पर्याप्तियोंसे पर्याप्त हुआ है, तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्तमें मृत्युको प्राप्त होकर जो सूक्ष्मनिगोदिया पर्याप्त जीवोंमें उत्पन्न हुआ है, पल्योपमके असंख्यातवें भागप्रमाण स्थितिकाण्डकघातोंके द्वारा पल्योपमके पल्योपमके असंख्यातवें भागमात्र कालमें कर्मको हतसमुत्पत्तिक करके जो पुनः बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्तोंमें उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार नाना भवग्रहणोंमें आठ संयमकाण्डकोंको पालनकर, चार बार कपायोंको उपशमाकर, पल्योपमके असंख्यातवें भागप्रमाण संयमासंयमकाण्डका और इतने ही सम्यक्त्वकाण्डकोंका परिपालन करके उपर्युक्त प्रकारसे परिभ्रमण करता हुआ जो पुनरपि पूर्वकोटिकी आयुवाले मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ है, यहां सर्व लघु कालमें जन्म लेकर आठ वर्षका हुआ है, पश्चात् संयमको प्राप्त होकर और कुछ कम पूर्वकोटि काल तक उसका परिपालन करके जीवनके स्वल्प शेष रह जानेपर दर्शनमोह और चारित्रमोहकी क्षपणा करता हुआ छद्मस्थ अवस्थाके अर्थात् बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयको प्राप्त होता है, उस जीवके उस अन्तिम समयमें ज्ञानावरणीयकर्मकी सर्व जघन्य द्रव्यवेदना होती है। इससे भिन्न जीवोंके अजघन्यवेदना जाननी चाहिए।

जो जीव ज्ञानावरणीयकर्मकी जघन्य द्रव्यवेदनाका स्वामी है, वही दर्शनावरणीय और अन्तरायकर्मकी भी जघन्य द्रव्यवेदनाका स्वामी जानना चाहिए। मोहकर्मकी जघन्य द्रव्यवेदना

उक्त प्रकारके क्षपितकर्मांशिक जीवके दशवै गुणस्थानवर्ती क्षपकसंयतके अन्तिम समयमें जाननी चाहिए ।

वेदनीय, नाम और गोत्रकर्मकी जघन्य द्रव्यवेदनाका स्वामी कौन है, इस पृच्छाके उत्तरमें बतलाया गया है, कि उक्त क्षपितकर्मांशिक जीव उपर्युक्त प्रकारसे आकर और क्षपकश्रेणीपर चढ़कर चार घातिया कर्मोंका क्षय करके केवली बनकर देशोन पूर्वकोटी काल तक धर्मोपदेश देते हुए विहार कर जीवनके स्वल्प शेष रह जानेपर योग-निरोधादि सर्व क्रियाओंको करता हुआ चरमसमयवर्ती भव्यसिद्धिक होता है, ऐसे अर्थात् अन्तिमसमयवर्ती अयोगिकेवलीके उक्त तीनों कर्मोंकी सर्व जघन्य द्रव्यवेदना होती है । उनसे भिन्न जीवोंके अजघन्य द्रव्यवेदना जानना चाहिए ।

आयुर्कर्मकी जघन्य द्रव्यवेदनाके स्वामीकी प्ररूपणा करते हुए बतलाया गया है कि जो पूर्वकोटीकी आयुवाला जीव सातवीं पृथिवीके नारकियोंमें अल्प आयुबन्धक कालके द्वारा आयुको बांधता है, उसे तत्प्रायोग्य जघन्य योगसे बांधता है, योगयवमध्यके नीचे अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है, प्रथम जीवगुणहानिस्थानान्तरमें आवलीके असंख्यातवै भाग काल तक रहता है, पुनः क्रमसे मरणकर सातवीं पृथिवीके नारकियोंमें उत्पन्न हुआ । उस प्रथम समयवर्ती आहारक और प्रथम समयवर्ती तद्भवस्थ जीवने जघन्य उपपादयोगके द्वारा आहारको ग्रहण किया, जघन्य वृद्धिसे वृद्धिको प्राप्त हुआ, सर्वदीर्घ अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा सब पर्याप्तियोंसे पर्याप्त हुआ, वहांपर तेतीस सागरोपम-प्रमाण भवस्थितिका पालन करता हुआ बहुत बहुत वार असातावेदनीयके बन्ध योग्य कालसे युक्त हुआ, जीवनके स्वल्प शेष रह जानेपर अनन्तर समयमें परभवकी आयुको बांधनेवाले उस नारकीके आयुर्कर्मकी जघन्य द्रव्यवेदना होती है । इससे भिन्न जीवोंके आयुर्कर्मकी अजघन्य द्रव्यवेदना जाननी चाहिए ।

### वेदनाक्षेत्र स्वामित्व—

क्षेत्रकी अपेक्षा ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोंकी उत्कृष्ट वेदनाके स्वामीकी प्ररूपणा करते हुए बतलाया गया है कि जो एक हजार योजन लम्बा, पांच सौ योजन चौड़ा और अढ़ाई सौ योजन मोटा ( ऊंचा ) महामच्छ स्वयम्भूरमण समुद्रके बाहिरी तटपर स्थित है, वहां वेदनासमुद्घातको करके जो तनुत्रातवलयसे संलग्न है, पुनः उसी समय मारणान्तिकसमुद्घातको करते हुए तीन विग्रहकाण्डकोंको करके अनन्तर समयमें नीचे सातवीं पृथिवीके नारकियोंमें उत्पन्न होनेवाला है, उसके चारों घातिया कर्मोंकी उत्कृष्ट क्षेत्रवेदना होती है । इस उत्कृष्ट क्षेत्रवेदनासे भिन्न अनुत्कृष्ट क्षेत्रवेदना जानना चाहिए ।

चारों अघातिया कर्मोंकी उत्कृष्ट क्षेत्रवेदनाके स्वामीकी प्ररूपणा करते हुए बतलाया गया है कि लोकपूरणसमुद्घातको प्राप्त हुए केवली भगवानके चारों अघातिया कर्मोंकी उत्कृष्ट क्षेत्रवेदना होती है ।

आठों कर्मोंकी जघन्य क्षेत्रवेदनाके स्वामीकी प्ररूपणा करते हुए बतलाया गया है कि जो ऋजुगतिसे उत्पन्न होकर तद्भवस्थ होनेके तृतीय समयमें वर्तमान और तृतीय समयवर्ती आहारक है, जघन्य योगवाला है, तथा सर्व जघन्य अवगाहनासे युक्त है, ऐसे सूक्ष्मनिगोदिया लब्धपर्याप्तक जीवके आठों कर्मोंकी सर्व जघन्य क्षेत्रवेदना होती है। इस जघन्य क्षेत्रवेदनासे भिन्न अजघन्य क्षेत्रवेदना जाननी चाहिए।

### वेदनाकाल स्वामित्व

आयुर्कर्मके सिवाय शेष सात कर्मोंकी उत्कृष्ट कालवेदनाके स्वामीकी प्ररूपणा करते हुए बतलाया गया है कि जो संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव सर्व पर्याप्तियोंसे पर्याप्त है, साकारोपयोगसे उपयुक्त और श्रुतोपयोगसे संयुक्त है, जागृत है, तथा उत्कृष्ट स्थितिवन्धके योग्य संक्लेश परिणामोंसे, अथवा ईषन्मध्यमसंक्लेश परिणामोंसे युक्त है, उसके सातों कर्मोंकी उत्कृष्ट कालवेदना होती है। उपर्युक्त विशेषण—विशिष्ट जीव कर्मभूमिया ही होना चाहिए, भोगभूमिया नहीं; क्योंकि भोगभूमिया जीवोंके उत्कृष्ट स्थितिवाला बन्ध सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त चाहे वह अकर्म-भूमिज देव-नारकी हो, या कर्मभूमि-प्रतिभागज अर्थात् स्वयम्प्रभपर्वतके बाह्य भागमें उत्पन्न तिर्यंच हो। वह चाहे संख्यातवर्षकी आयुवाला हो, और चाहे असंख्यातवर्षकी आयुवाला हो, चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिका हो, तिर्यंचोंमेंसे जलचर, थलचर या नभचर कोई भी हो सकता है। उपर्युक्त उत्कृष्ट कालवेदनासे भिन्न अनुकृष्ट कालवेदना जाननी चाहिए।

आयुर्कर्मकी उत्कृष्ट कालवेदनाके स्वामीकी प्ररूपणा करते हुए बतलाया गया है कि उत्कृष्ट देवायुके बन्धक सम्यग्दृष्टि संयत मनुष्य ही होते हैं। उत्कृष्ट नरकायुके बन्धक संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त कर्मभूमिया मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्य दोनों होते हैं। इससे भिन्न अनुकृष्ट कालवेदना जाननी चाहिए।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्मकी जघन्य कालवेदना बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयवर्ती क्षीण-कषाय-वीतराग छद्मस्थसंयतके होती है। मोहनीयकर्मकी जघन्य कालवेदना दशवें गुणस्थानके अन्तिम समयवर्ती सूक्ष्मसाम्पराय संयत क्षपक जीवके होती है। चारों अघातिया कर्मोंकी जघन्य कालवेदना अयोगिकेवलीके चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें होती है। अपनी अपनी जघन्य कालवेदनाओंसे भिन्न उनकी अजघन्य कालवेदना जाननी चाहिए।

### वेदना भावस्वामित्व

ज्ञानावरणादि चारों घातिया कर्मोंकी उत्कृष्ट भाववेदनाके स्वामीकी प्ररूपणा करते हुए बतलाया गया है कि चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिका कोई भी ऐसा जीव हो जो संज्ञी हो,

पंचेन्द्रिय हो, मिथ्यादृष्टि हो, सर्व पर्याप्तियोंसे पर्याप्त हो, साकारोपयोगसे उपयुक्त हो, जागृत हो और नियमसे उत्कृष्ट संकेशको प्राप्त होकर जिसने उक्त अभी कर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध बान्ध है और इसके उत्कृष्ट अनुभागसत्त्व विद्यमान है, ऐसा जीव अनुभागकाण्डक घात किये बिना ही अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर मरणकर यदि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, या पंचेन्द्रिय संज्ञी या असंज्ञी जीवोंमें उत्पन्न हुआ है; भले ही वह बादर हो, या सूक्ष्म हो; पर्याप्त हो, या अपर्याप्त हो; चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें जन्म लिया हो; वह उक्त चारों घातिया कर्मोंकी उत्कृष्ट कालवेदनाका स्वामी है। इस उत्कृष्ट भाववेदनासे भिन्न अनुकृष्ट भाववेदना जाननी चाहिए।

वेदनीय, नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट भाववेदनाके स्वामित्वकी प्ररूपणा करते हुए बतलाया गया है कि जिस सूक्ष्मसाम्पराय शुद्धिसंयत क्षपकने दशवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें उक्त तीनों अघातिया कर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध किया है, ऐसे उस अन्तिम समयवर्ती सूक्ष्म साम्परायसंयत क्षपकके, तथा उस उत्कृष्ट अनुभागसत्त्वकी सत्तावाले क्षीणकषाय-वीतरागछद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवलीके वेदनीय, नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट भाववेदना जाननी चाहिए। उक्त कर्मोंकी इस उत्कृष्ट भाववेदनासे भिन्न शेष वेदनाओंके धारक जीवोंको अनुकृष्ट भाववेदनाका स्वामी जानना चाहिए।

आयुर्कर्मकी उत्कृष्ट भाववेदनाके स्वामीकी प्ररूपणा करते हुए बतलाया गया है कि साकारोपयोगसे उपयुक्त, जागृत और तत्प्रायोग्य विशुद्धिसे युक्त जिस अप्रमत्तसंयतने देवायुका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध किया है, उसके, तथा उस उत्कृष्ट अनुभागसत्त्वके साथ उपशमश्रेणीपर चढ़नेवाले और उतरनेवाले चारों उपशामक संयतोंके, प्रमत्तसंयतके, तथा मरणकर अनुत्तर विमानोंमें उत्पन्न होनेवाले देवके आयुर्कर्मकी उत्कृष्ट भाववेदना होती है। इससे भिन्न जीवोंके आयुर्कर्मकी अनुकृष्ट भाववेदना जाननी चाहिए।

जघन्य भाववेदनाके स्वामित्वकी प्ररूपणा करते हुए बतलाया गया है कि क्षीणकषाय-वीतरागछद्मस्थके बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय-कर्मकी जघन्य भाववेदना होती है। सूक्ष्मसाम्परायसंयत क्षपकके दशवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें मोहकर्मकी जघन्य भाववेदना होती है। असातावेदनीयका वेदन करनेवाले चरमसमयवर्ती अयोगिकेवलीके वेदनीयकी जघन्यभाववेदना होती है। परिवर्तमान मध्यमपरिणामवाले जिस मनुष्य या पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिवाले जीवने अपर्याप्ततिर्यंचसम्बन्धी आयुका जघन्य अनुभागबन्ध किया है, उसके और जिसके उसका सत्त्व है ऐसे जीवके आयुर्कर्मकी जघन्य भाववेदना होती है। जिस हतसमुत्पत्तिक कर्मवाले सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवने परिवर्तमान मध्यम परिणामोंके द्वारा नामकर्मका जघन्य अनुभागबन्ध किया है उसके और जिसके उसका सत्त्व है, ऐसे जीवके

नामकर्मकी जघन्य भाववेदना होती है। सर्व पर्याप्तियोंसे पर्याप्त, साकारोपयोगसे उपयुक्त, जागृत, सर्वविशुद्ध एवं हतसमुत्पत्तिककर्मवाले जिस किसी बादर तैजस्कायिक या वायुकायिक जीवने उच्च गोत्रकी उद्वेलना करके नीचगोत्रका जघन्य अनुभाग बन्ध किया है, उसके और जिसके उसकी सत्ता पाई जा रही है, ऐसे जीवके गोत्रकर्मकी जघन्य भाववेदना होती है। उपर्युक्त जघन्य भाववेदनाओंसे भिन्न वेदनाओंको अजघन्य भाववेदनाएं जाननी चाहिए।

इसके अतिरिक्त इसी वेदना अनुयोगद्वारके अन्तमें अनुक्त विशेष अर्थके व्याख्यान करनेके लिए तीन चूलिकाएं भी दी गई हैं। प्रथम चूलिकामें गुणश्रेणीनिर्जराके ११ स्थानोंका तथा उनमें लगनेवाले कालका भी अल्पबहुत्वक्रमसे वर्णन किया गया है। द्वितीय चूलिकामें बारह अनुयोगद्वारोंसे अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानोंका विस्तारसे वर्णन किया गया है। तृतीय चूलिकामें आठ अनुयोगद्वारोंसे उक्त अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानोंमें रहनेवाले जीवोंके प्रमाण आदिका विस्तारसे वर्णन किया गया है, जिसका परिज्ञान पाठक मूल ग्रन्थका स्वाध्याय करके ही प्राप्त कर सकेंगे।

### ५ वर्गणाखण्ड

यद्यपि महाकर्मप्रकृतिप्राप्तके २४ अनुयोगद्वारोंमें स्पर्श, कर्म और प्रकृति ये तीन अनुयोगद्वार स्वतंत्र हैं, और भूतबलि आचार्यने भी इनका स्वतंत्ररूपसे ही वर्णन किया है, तथापि छठे बन्धन-अनुयोगद्वारके अन्तर्गत बन्धनीयका आलम्बन लेकर पुद्गल-वर्गणाओंका विस्तारसे वर्णन किया गया है और आगेके अनुयोगद्वारोंका वर्णन आ० भूतबलिने नहीं किया है, इस लिए स्पर्श-अनुयोगद्वारसे लेकर बन्धन अनुयोगद्वार तकका वर्णित अंश 'वर्गणाखण्ड' इस नामसे प्रसिद्ध हुआ है।

स्पर्श-अनुयोगद्वारका संक्षिप्त परिचय पहले दे आये हैं। यह स्पर्श तेरह प्रकारका है— १ नामस्पर्श, २ स्थापनास्पर्श, ३ द्रव्यस्पर्श, ४ एकक्षेत्रस्पर्श, ५ अनन्तरक्षेत्रस्पर्श, ६ देशस्पर्श, ७ त्वक्स्पर्श, ८ सर्वस्पर्श, ९ स्पर्शस्पर्श, १० कर्मस्पर्श, ११ बन्धस्पर्श, १२ भव्यस्पर्श और १३ भावस्पर्श। इनका स्वरूप इस अनुयोगद्वारमें यथास्थान वर्णन किया गया है। प्रकृतमें कर्मस्पर्श ही विवक्षित है; क्योंकि यहां कर्मोंके बन्धका प्रकरण है।

कर्म-अनुयोगद्वारका भी संक्षिप्त परिचय पहले दिया जा चुका है। कर्म दश प्रकारका है— १ नामकर्म, २ स्थापनाकर्म, ३ द्रव्यकर्म, ४ प्रयोगकर्म, ५ समवदानकर्म, ६ अधःकर्म, ७ ईर्यापथकर्म, ८ तपःकर्म, ९ क्रियाकर्म और १० भावकर्म। इन सबका स्वरूप इस अनुयोगद्वारमें वर्णन करके बतलाया गया है कि प्रकृतमें समवदानकर्म विवक्षित है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगके निमित्तसे कर्मोंके ग्रहण करनेको समवदानकर्म कहते हैं।

प्रकृतिअनुयोगद्वारमें कर्मोंकी मूल और उत्तर प्रकृतियोंका विस्तारसे वर्णन किया गया है। प्रकरण वश पांचो ज्ञानोंका भी विस्तृत विवेचन किया गया है, जो परवर्ती ग्रन्थकारोंके लिए आधारभूत सिद्ध हुआ है।

महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके छठे अनुयोगद्वारका नाम 'बन्धन' है। बन्धनके चार भेद हैं— १ बन्ध, २ बन्धक, ३ बन्धनीय और ४ बन्धविधान। इनमेंसे बन्धकका वर्णन खुदाबन्ध नामक दूसरे खण्डमें और बन्धविधानका वर्णन महाबन्ध नामके छठे खण्डमें किया गया है। शेष रहे दो भेदोंका— बन्ध और बन्धनीयका विवेचन इस अनुयोगद्वारमें किया गया है। उसमें भी यतः बन्धनीयके प्रसंगसे वर्णनाओंका विशेष ऊहापोह किया गया है, अतः स्पर्श-अनुयोगद्वारसे लेकर यहां तकका पूरा प्रकरण 'वर्गणखण्ड' कहा जाता है।

## १ बन्ध

बन्धन अनुयोगद्वारके चार भेदोंमें पहला भेद बन्ध है। निक्षेपकी दृष्टिसे इसके चार भेद हैं— नामबन्ध, स्थापनाबन्ध, द्रव्यबन्ध और भावबन्ध। जीव, अजीव आदि जिस किसी भी पदार्थका 'बन्ध' ऐसा नाम रखना नामबन्ध है। तदाकार और अतदाकार पदार्थोंमें 'यह बन्ध है' ऐसी स्थापना करना स्थापनाबन्ध है। द्रव्यबन्धके दो भेद हैं— आगमद्रव्यबन्ध और नोआगम-द्रव्यबन्ध। बन्धविषयक स्थित, जित आदि नौ प्रकारके आगममें वाचना आदिरूप जो अनुपयुक्त भाव होता है, उसे आगमद्रव्यबन्ध कहते हैं। नो आगमद्रव्यबन्ध दो प्रकारका है— प्रयोगबन्ध और विस्त्रसाबन्ध। विस्त्रसाबन्धके दो भेद हैं— सादिविस्त्रसाबन्ध और अनादिविस्त्रसाबन्ध। धर्मास्तिकाय आदि तीन द्रव्योंका अपने अपने देशों और प्रदेशोंके साथ जो अनादिकालीन बन्ध है, वह अनादि विस्त्रसाबन्ध कहलाता है। स्निग्ध और रूक्षगुणयुक्त पुद्गलोंका जो बन्ध होता है, वह सादिविस्त्रसाबन्ध कहलाता है। सादिविस्त्रसाबन्धकी विशेष जानकारीके लिए मूल ग्रन्थका विशेषरूपसे स्वाध्याय करना अपेक्षित है। नाना प्रकारके स्कन्ध इसी सादिविस्त्रसाबन्धके कारण बनते हैं। प्रयोगबन्ध दो प्रकारका है— कर्मबन्ध और नोकर्मबन्ध। नोकर्मबन्धके पांच भेद हैं— आलापनबन्ध, अल्लीपनबन्ध, संश्लेषबन्ध, शरीरबन्ध और शरीरिबन्ध। काष्ठ आदि पृथग्भूत द्रव्योंको रस्सी आदिसे बांधना आलापनबन्ध है। लेपविशेषके कारण विविध द्रव्योंके पारस्परिक बन्धको अल्लीपनबन्ध कहते हैं। लाख, गोंद आदिसे दो पदार्थोंका परस्पर चिपकना संश्लेषबन्ध है। पांच शरीरोंका यथायोग्य बन्धको प्रात होना शरीर बन्ध है। शरीरि बन्धके दो भेद हैं— सादिशरीरि बन्ध और अनादि शरीरिबन्ध। जीवका औदारिक आदि शरीरोंके साथ जो बन्ध है, वह सादिशरीरि बन्ध है। जीवके आठ मध्यप्रदेशोंका परस्पर जो बन्ध है, वह अनादि शरीरिबन्ध है। इसी प्रकार शरीरधारी प्राणीका अनादिकालसे जो कर्म और नोकर्मके साथ बन्ध हो रहा है, उसे भी अनादि शरीरिबन्ध समझना चाहिए।

भावबन्धके दो भेद हैं— आगमभावबन्ध और नोआगमभावबन्ध । बन्धशास्त्रविषय स्थित, जित आदि नौ प्रकारके आगममें वाचना, पृच्छना आदिरूप जो उपयुक्त भाव होता है, उसे आगमभावबन्ध कहते हैं । नो आगमभावबन्ध दो प्रकारका है— जीवभावबन्ध और अजीवभावबन्ध । जीवभावबन्धके तीन भेद हैं— विपाकज जीवभावबन्ध, अविपाकज जीवभावबन्ध और तदुभयरूप जीवभावबन्ध । जीवविपाकी अपने अपने कर्मके उदयसे देवभाव, मनुष्यभाव, तिर्यग्भाव, नारकभाव, स्त्रीवेदभाव, पुरुषवेदभाव, क्रोधभाव आदिरूप जो भाव उत्पन्न होते हैं, वे सब विपाकज जीवभावबन्ध हैं । अविपाकज जीवभावबन्धके दो भेद हैं— औपशमिक और क्षायिक । उपशान्त क्रोध, उपशान्त मान आदि भाव औपशमिक अविपाकज जीवभावबन्ध कहलाते हैं । क्षीणमोह, क्षीणमान आदि क्षायिक अविपाकज जीवभावबन्ध कहलाते हैं । एकेन्द्रियलब्धि आदि क्षायोपशमिकभाव तदुभयरूप जीवभावबन्ध कहलाते हैं । अजीवभावबन्ध भी विपाकज, अविपाकज और तदुभयके भेदसे तीन प्रकारका है । पुद्गलविपाकी कर्मोंके उदयसे शरीरमें जो वर्णादि उत्पन्न होते हैं, वे विपाकज अजीवभावबन्ध कहलाते हैं । पुद्गलके विविध स्कन्धोंमें जो स्वाभाविक वर्णादि होते हैं, वे अविपाकज अजीवभावबन्ध कहलाते हैं । दोनों प्रकारके मिले हुए वर्णादिक तदुभयरूप अजीवभावबन्ध कहलाते हैं ।

बन्धके उपर्युक्त भेदोंमेंसे यहांपर नोआगमद्रव्यबन्धके कर्म और नोकर्मबन्धसे प्रयोजन है ।

## २ बन्धक

कर्मके बन्ध करनेवाले जीवको बन्धक कहते हैं । बन्धक जीवोंकी प्ररूपणा आ० भूतबलिने खुदाबन्ध नामके दूसरे खण्डमें विस्तारसे की गई है, वह सब इसी अनुयोगद्वारेके अन्तर्गत जानना चाहिए ।

## ३ बन्धनीय

जीवसे पृथग्भूत किन्तु बन्धनेके योग्य जो पौद्गलिक कर्म — नोकर्मस्कन्ध हैं, उनकी 'बन्धनीय' संज्ञा है । ये बंधे हुए कर्म -- नोकर्मरूप पुद्गलस्कन्ध द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार वेदनयोग्य होते हैं । सभी पुद्गलस्कन्ध वेदनयोग्य नहीं होते; किन्तु तेईस प्रकारकी पुद्गलवर्गणाओंमें जो ग्रहणप्रायोग्य वर्गणाएं हैं, वे जब आत्माके योग-द्वारा आकृष्ट होकर कर्म और नोकर्मरूपसे परिणत होकर आत्माके साथ बन्धको प्राप्त होती हैं, तभी वेदनयोग्य होती हैं ।

आ० भूतबलिने इस 'बन्धनीय' का अनेक अनुयोगद्वारों और उनके अवान्तर अधिकारों-द्वारा विस्तारसे वर्णन किया है, जिसका अनुभव तो पाठक मूलग्रन्थका स्वाध्याय करके ही कर सकेंगे । यहां वर्गणासम्बन्धी कुछ खास जानकारी दी जाती है ।



वर्गणा दो प्रकारकी है— अभ्यन्तरवर्गणा और बाह्यवर्गणा। अभ्यन्तरवर्गणा भी दो प्रकारकी है— एकश्रेणिवर्गणा और नानाश्रेणिवर्गणा। एकश्रेणिवर्गणाके तेईस भेद हैं— १ एक-प्रदेशिकपरमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा, २ संख्यातप्रदेशिकपरमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा, ३ असंख्यात-प्रदेशिकपरमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा, ४ अनन्तप्रदेशिकपरमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा, ५ आहारद्रव्यवर्गणा, ६ अग्रहणद्रव्यवर्गणा, ७ तैजसद्रव्यवर्गणा, ८ अग्रहणद्रव्यवर्गणा, ९ भाषाद्रव्यवर्गणा, १० अग्रहणद्रव्यवर्गणा, ११ मनोद्रव्यवर्गणा, १२ अग्रहणद्रव्यवर्गणा, १३ कार्मणद्रव्यवर्गणा, १४ ध्रुवस्कन्धद्रव्यवर्गणा, १५ सान्तरनिरन्तरद्रव्यवर्गणा, १६ ध्रुवशून्यद्रव्यवर्गणा, १७ प्रत्येक-शरीरद्रव्यवर्गणा, १८ ध्रुवशून्यद्रव्यवर्गणा, १९ बादर निगोदद्रव्यवर्गणा, २० ध्रुवशून्यद्रव्यवर्गणा, २१ सूक्ष्म निगोदद्रव्यवर्गणा, २२ ध्रुवशून्यद्रव्यवर्गणा और २३ महास्कन्धद्रव्यवर्गणा।

एक परमाणुकी एकप्रदेशिकपरमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा संज्ञा है। द्विप्रदेशिकसे लेकर उत्कृष्ट संख्यातप्रदेशिकपरमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा तक सब वर्गणाओंकी संख्यातप्रदेशिकपरमाणु-पुद्गलद्रव्यवर्गणा संज्ञा है। यह दूसरी वर्गणा है। जघन्य असंख्यातप्रदेशिकसे लेकर उत्कृष्ट असंख्यात-प्रदेशिकपरमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणाओंकी असंख्यातप्रदेशिकपरमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा संज्ञा है। यह तीसरी वर्गणा है। जघन्य अनन्तप्रदेशिकसे लेकर आहारवर्गणासे पूर्व तककी अनन्तप्रदेशिक और अनन्तानन्तप्रदेशिक जितनी वर्गणाएं हैं उन सबकी अनन्तप्रदेशिकपरमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा संज्ञा है। यह चौथी वर्गणा है। यहां यह ज्ञातव्य है कि संख्यातप्रदेशिकवर्गणाके एक अंक कम उत्कृष्ट संख्यातप्रमाण भेद होते हैं। तथा उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यातमेंसे उत्कृष्ट संख्यातके कम करनेपर जो शेष रहे, उसमें एक अंकके मिलानेपर जितना प्रमाण होता है, उतने ही असंख्यातप्रदेशिकवर्गणाके भेद होते हैं। संख्यातप्रदेशिकवर्गणाओंसे असंख्यातप्रदेशिकवर्गणाएं असंख्यातगुणी हैं। जघन्य अनन्तप्रदेशिकवर्गणासे लेकर आहारवर्गणाके पूर्वतककी जितनी अनन्तप्रदेशिकवर्गणाएं हैं, उनका प्रमाण भी अनन्त है। आहारवर्गणासे पूर्ववाली ये चारों ही वर्गणाएं अग्राह्य हैं, अर्थात् किसी भी जीवके द्वारा इनका कभी भी ग्रहण नहीं होता है। यद्यपि ये संख्यातप्रदेशिकवर्गणाएं संख्यात हैं, असंख्यातप्रदेशिकवर्गणाएं असंख्यात हैं और आहारवर्गणासे पूर्व तककी अनन्तप्रदेशिकवर्गणाएं अनन्त हैं, तथापि जातिकी अपेक्षा उन्हें एक-एक कहा गया है।

उत्कृष्ट अनन्तप्रदेशी द्रव्यवर्गणामें एक परमाणुके मिलानेपर जघन्य आहारद्रव्यवर्गणा होती है। पुनः एक एक परमाणुके बढ़ाते हुए अभव्योंसे अनन्तगुणित और सिद्धोंके अनन्तवें भागप्रमाण भेदोंके जानेपर उत्कृष्ट आहारद्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। यह पांचवी वर्गणा है। इस आहारद्रव्यवर्गणाके परमाणुओंसे औदारिक, वैक्रियिक और आहारकशरीरका निर्माण होता है। उत्कृष्ट आहारद्रव्यवर्गणाके ऊपर एक परमाणुके बढ़ानेपर जघन्य अग्रहणद्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। उसके ऊपर एक एक परमाणुके बढ़ाते हुए अभव्योंसे अनन्तगुणित और सिद्धोंके अनन्तवें भागप्रमाण भेदोंके जानेपर

उत्कृष्ट अग्रहणद्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। यह वर्गणा भी अग्राह्य हैं, अर्थात् जीवके द्वारा शरीरादि किसी भी रूपमें इसका ग्रहण नहीं होता है। यह छठी वर्गणा है।

उत्कृष्ट अग्रहणद्रव्यवर्गणाके ऊपर एक परमाणुके मिलानेपर जघन्य तैजसद्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। पुनः एक एक अधिक परमाणुके बढ़ाते हुए अभव्योंसे अनन्तगुणित और सिद्धोंके अनन्तर्वे भागप्रमाण स्थान आगे जानेपर उत्कृष्ट तैजसद्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। इस तैजस-द्रव्यवर्गणासे तैजसशरीरका निर्माण होता है। यह सातवीं वर्गणा है।

तैजसद्रव्यवर्गणाके ऊपर एक परमाणु मिलानेपर दूसरी जघन्य अग्रहणद्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। पुनः पूर्वोक्त क्रमसे एक एक परमाणुके बढ़ाते हुए अनन्तस्थान आगे जानेपर उत्कृष्ट अग्रहणद्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। ये सभी अग्रहणवर्गणाएं भी जीवके द्वारा अग्राह्य होनेसे शरीरादि किसी कार्यमें नहीं आती हैं। यह आठवीं वर्गणा है।

उक्त उत्कृष्ट अग्रहणद्रव्यवर्गणाके ऊपर एक परमाणुकी वृद्धि होनेपर जघन्य भाषाद्रव्य-वर्गणा प्राप्त होती है। पुनः पूर्वोक्त क्रमसे एक एक परमाणुके बढ़ाते हुए अनन्तस्थान आगे जानेपर उत्कृष्ट भाषाद्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। इस भाषावर्गणाके परमाणु ही विविध प्रकारकी भाषाओंके रूपमें शब्दरूपसे परिणत होकर बोले जाते हैं। यह नववीं वर्गणा है।

उत्कृष्ट भाषावर्गणाके ऊपर एक परमाणु मिलानेपर तीसरी जघन्य अग्रहणद्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। पुनः पूर्वोक्त प्रकारसे एक एक परमाणुके बढ़ाते हुए अनन्तस्थान आगे जानेपर उत्कृष्ट अग्रहणद्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। ये सभी अग्रहणवर्गणाएं भाषादिके रूपमें ग्रहण करनेके योग्य न होनेसे अग्राह्य है। यह दशवीं वर्गणा है।

उक्त तीसरी उत्कृष्ट अग्रहणद्रव्यवर्गणाके ऊपर एक परमाणुकी वृद्धि होनेपर जघन्य मनोद्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। पुनः एक एक अधिक परमाणुके क्रमसे बढ़ाते हुए अनन्तस्थान आगे जानेपर उत्कृष्ट मनोद्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। इस वर्गणाके परमाणुओंसे द्रव्यमनका निर्माण होता है। यह ग्यारहवीं वर्गणा है।

उत्कृष्ट मनोद्रव्यवर्गणाके ऊपर एक परमाणुकी वृद्धि होने पर चौथी जघन्य अग्रहण द्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। इसके ऊपर पूर्वोक्तक्रमसे एक एक परमाणुके बढ़ाते हुए अनन्तस्थान जानेपर उत्कृष्ट अग्रहण द्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। इस वर्गणाके परमाणु भी भाषामन आदि किसी भी कार्यके लिए ग्रहण करनेके योग्य नहीं हैं। यह बारहवीं वर्गणा है।

उक्त चौथी अग्रहण द्रव्यवर्गणाके ऊपर एक परमाणुके मिलानेपर जघन्य कार्मण द्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। पुनः एक एक परमाणुकी वृद्धि करते हुए अनन्त स्थान आगे जानेपर

उत्कृष्ट कार्मण द्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। इस वर्गणाके पुद्गलस्कन्ध ही ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके रूपसे परिणत होते हैं। यह तेरहवीं वर्गणा है।

उत्कृष्ट कार्मण वर्गणामें एक परमाणुकी वृद्धि होनेपर जघन्य ध्रुवस्कन्धद्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। पुनः एक एक परमाणुकी वृद्धि करते हुए सब जीवोंसे अनन्तगुणित स्थान आगे जानेपर उत्कृष्ट ध्रुवस्कन्ध द्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। ये ध्रुवस्कन्धवर्गणां भी अग्राह्य हैं। यह चौदहवीं वर्गणा है।

उत्कृष्ट ध्रुवस्कन्ध द्रव्यवर्गणामें एक परमाणुके मिलानेपर जघन्यसान्तर निरन्तर द्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है उसके ऊपर एक एक परमाणुकी वृद्धि करते हुए सब जीवोंसे अनन्तगुणित स्थान आगे जानेपर उत्कृष्ट सान्तरनिरन्तरद्रव्य वर्गणा प्राप्त होती है। यह भी अग्रहणवर्गणा है, क्योंकि यह आहार, तैजस, भाषा आदिके परिणमन-योग्य नहीं है। इस वर्गणाके परमाणु जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट तक अन्तर-सहित भी पाये जाते हैं और अन्तर-रहित भी पाये जाते हैं, इसलिए इसे सांतरनिरन्तर द्रव्यवर्गणा कहते हैं। यह पन्द्रहवीं वर्गणा है।

सान्तर निरन्तर द्रव्यवर्गणाओंके ऊपर ध्रुवशून्यवर्गणा होती है। उत्कृष्ट सान्तर निरन्तर द्रव्यवर्गणाके ऊपर एक परमाणु अधिक, दो परमाणु अधिक आदिके रूपसे पुद्गलपरमाणुरस्कन्ध तानों ही कालोंमें नहीं पाये जाते। किन्तु सब जीवोंसे अनन्तगुणित स्थान आगे जाकर प्रथम ध्रुवशून्यवर्गणाकी उत्कृष्ट वर्गणा प्राप्त होती है। यह सोलहवीं वर्गणा है, जो सदा शून्यरूपसे अवस्थित रहती है।

ध्रुवशून्यवर्गणाओंके ऊपर एक परमाणुकी वृद्धि होनेपर जघन्य प्रत्येक शरीरद्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। एक एक जीवके एक एक शरीरमें उपचित हुए कर्म और नोकर्मस्कन्धोंको प्रत्येक शरीर द्रव्यवर्गणा कहते हैं। यह प्रत्येक शरीर पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, देव, नारकी, आहारकशरीरी प्रमत्तसंयत और केवलजिनके पाया जाता है। इन आठ प्रकारके जीवोंके सिवाय शेष जितने संसारी जीव हैं, उनका शरीर या तो निगोद जीवोंसे प्रतिष्ठित होनेके कारण सप्रतिष्ठित प्रत्येकरूप है, या स्वयं निगोदरूप साधारण शरीर है। केवल जो वनस्पति निगोद-रहित होती है, वह इसका अपवाद है। ऊपर बतलाई गई यह जघन्य प्रत्येक शरीरद्रव्यवर्गणा क्षपितकर्मांशिक जीवके चौदहवें गुणरथानके अन्तिम समयमें होती है। इस जघन्य प्रत्येक शरीरद्रव्यवर्गणासे एक एक परमाणुकी वृद्धि करते हुए अनन्त स्थान आगे जानेपर उत्कृष्ट प्रत्येक शरीरद्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है, जो महावनके दाहदिके समय एक बन्धनबद्ध अग्निकायिक जीवोंके पाई जाती है। यद्यपि महावनादिके दाह-समय जितने अग्निकायिक जीव होते हैं, उन सबका पृथक्-पृथक् स्वतंत्र ही शरीर होता है, तथापि वे सब जीव और उनके शरीर परस्पर संयुक्त रहते हैं, इसलिए उन सबकी एक वर्गणा मानी गई है। यह सतरहवीं वर्गणा है।

उत्कृष्ट प्रत्येक शरीरद्रव्यवर्गणाके ऊपर एक परमाणुकी वृद्धि होनेपर दूसरी सर्वजघन्य ध्रुवशून्यवर्गणा प्राप्त होती है । पुनः एक एक परमाणुकी क्रमसे वृद्धि करनेपर सब जीवोंसे अनन्तगुणितस्थान आगे जानेपर उत्कृष्ट ध्रुवशून्यवर्गणा प्राप्त होती है । यह वर्गणा भी सदा शून्यरूपसे अवस्थित रहती है । यह अठारहवीं वर्गणा है ।

उत्कृष्ट ध्रुवशून्यवर्गणाके ऊपर एक परमाणुकी वृद्धि होने पर सबसे जघन्य बादर निगोदवर्गणा प्राप्त होती है । यह वर्गणा क्षपितकर्मांशिक विधिसे आये हुए क्षीणकषायी जीवके बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें प्राप्त होती है । इसका एक कारण तो यह है कि जो क्षपित कर्मांशिक विधिसे आया हुआ जीव होता है, उसके कर्म और नोकर्मका संचय उत्तरोत्तर कम होता जाता है । दूसरे यह नियम है कि क्षपकश्रेणीपर चढ़नेवाले जीवके विशुद्धिके कारण ऐसी विशिष्ट शक्ति उत्पन्न होती है कि जिससे उस जीवके बारहवें गुणस्थानमें पहुँचनेपर प्रथम समयमें उसके शरीर-स्थित अनन्त बादरनिगोदिया जीव मरते हैं । दूसरे समयमें उससे भी विशेष अधिक अनन्त बादर निगोदिया जीव मरते हैं । इस प्रकार आवली पृथक्त्वप्रमाण काल तक प्रतिसमय उत्तरोत्तर विशेष अधिक, विशेष अधिक बादर निगोदिया जीव मरते हैं । उससे आगे क्षीणकषायके कालमें आवलीके असंख्यातवें भागप्रमाण काल शेष रहनेतक संख्यात भाग अधिक, संख्यात भाग अधिक बादर निगोदिया जीव प्रतिसमय मरते हैं । तदनन्तर समयमें उससे असंख्यातगुणित बादर निगोदिया जीव मरते हैं । इसी क्रमसे बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समय तक उसके शरीरमें स्थित बादर निगोदिया जीव प्रतिसमय असंख्यात गुणित मरते हैं । इस प्रकार बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें मरनेवाले जितने बादर निगोदिया जीव होते हैं, उनके विश्वासोपचयसहित कर्म और नोकर्मवर्गणाओंके समुदायको एक बादर निगोदवर्गणा कहते हैं । यतः यह अन्य बादर निगोदवर्गणाओंकी अपेक्षा सबसे जघन्य होती है, अतः क्षपितकर्मांशिक जीवके बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें जघन्य बादर निगोदवर्गणा कही गई है । स्वयम्भूरमणद्वीपके कर्मभूमिसम्बन्धी भागमें उत्पन्न हुई मूलीके शरीरमें उत्कृष्ट बादर निगोदवर्गणा होती है । मध्यमें नाना जीवोंके शरीरोंके आधारसे ये बादर निगोदवर्गणाएँ जघन्यसे उत्कृष्ट तक असंख्य प्रकारकी होती हैं । यह उन्नीसवीं वर्गणा है ।

उत्कृष्ट बादर निगोदवर्गणामें एक परमाणुकी वृद्धि होनेपर तीसरी सर्व जघन्य ध्रुवशून्यवर्गणा प्राप्त होती है । पुनः इसके ऊपर एक एक परमाणुकी वृद्धि करते हुए सब जीवोंसे अनन्तगुणित स्थान आगे जानेपर उत्कृष्ट ध्रुवशून्यवर्गणा प्राप्त होती है । यह वर्गणा भी शून्यरूपसे अवस्थित रहती है । यह बीसवीं वर्गणा है ।

उक्त उत्कृष्ट ध्रुवशून्यवर्गणाके ऊपर एक परमाणुकी वृद्धि करनेपर सर्वजघन्य सूक्ष्म-निगोदवर्गणा प्राप्त होती है । यह वर्गणा क्षपितकर्मांशिकविधिसे और क्षपितघोलमानविधिसे आये हुए

सूक्ष्मनिगोदिया जीवोंके होती है। यहां यह ज्ञातव्य है कि एक निगोदिया जीवका कोई एक स्वतंत्र शरीर नहीं होता, किन्तु अनन्तानन्त निगोदिया जीवोंका एक शरीर होता है। असंख्यात लोकप्रमाण शरीरोंकी एक पुटवि होती है और आवलीके असंख्यातवै भागप्रमाण पुटवियोंका एक स्कन्ध होता है। इस एक स्कन्धगत अनन्तानन्त जीवोंके औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरोंके त्रिस्रोपचयसहित कर्म -- नोकर्मपुद्गलपरमाणुओंके समुदायरूप सबसे जघन्य सूक्ष्मनिगोदवर्गणा होती है। उत्कृष्ट सूक्ष्मनिगोदवर्गणा एकवन्धनबद्ध छह जीवनिर्कार्योंके समुदायरूप महामच्छके शरीरमें पाई जाती है। जघन्य और उत्कृष्ट सूक्ष्मनिगोदवर्गणाके मध्यमें एक एक परमाणुकी वृद्धिसे बढ़ते हुए असंख्य स्थान होते हैं। यह इक्कीसवीं वर्गणा है।

उत्कृष्ट सूक्ष्मनिगोदवर्गणाके ऊपर एक परमाणुकी वृद्धि होनेपर चौथी सर्वजघन्य ध्रुवशून्यवर्गणा प्राप्त होती है। पुनः एक एक परमाणुकी उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए सब जीवोंसे अनन्तगुणित स्थान आगे जानेपर उत्कृष्ट ध्रुवशून्यवर्गणा प्राप्त होती है। यह जघन्यसे असंख्यातगुणी होती है। यह भी शून्यरूपसे अवस्थित है। यह बाईसवीं वर्गणा है।

उत्कृष्ट ध्रुवशून्यवर्गणाके ऊपर एक परमाणुकी वृद्धि होनेपर सर्वजघन्य महास्कन्धद्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। पुनः एक एक परमाणुकी वृद्धि करते हुए सब जीवोंसे अनन्तगुणित स्थान आगे जानेपर उत्कृष्ट महास्कन्धवर्गणा प्राप्त होती है। यह उत्कृष्ट महास्कन्धवर्गणा, आठों पृथिवियों, टंक, कूट, भवन, विमान, विमानेन्द्रक, विमानप्रस्तार, नरक, नरकेन्द्रक, नरकप्रस्तार, गुच्छ, गुल्म, लता और तृणवनस्पति आदि समस्त स्कन्धोंके संयोगात्मक है। यद्यपि इन सब पृथिवी आदिमें अन्तर दृष्टिगोचर होता है, तथापि सूक्ष्मस्कन्धोंके द्वारा उन सबका परस्पर सम्बन्ध बना हुआ है, इसीलिए इन सबको मिलाकर एक महास्कन्धद्रव्यवर्गणा कही जाती है। यह सबसे बड़ी तेईसवीं वर्गणा है।

इस प्रकार ये सब तेईस वर्गणाएँ हैं। इनमेंसे आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणा ये पांच वर्गणाएँ जीवके द्वारा ग्रहण की जाती हैं। शेष नहीं, अतः उन्हें अग्राह्य वर्गणाएँ कही जाती हैं। यह सब आभ्यन्तर वर्गणाओंका विचार किया गया है।

बाह्यवर्गणाओंका विचार ग्रन्थकारने शरीरिशरीरप्ररूपणा, शरीरप्ररूपणा, शरीरत्रिस्रोपचयप्ररूपणा और त्रिस्रोपचयप्ररूपणा इन चार अनुयोगद्वारासे किया है। शरीरी जीवको कहते हैं। इनके प्रत्येक और साधारणके भेदसे दो प्रकारके शरीर होते हैं। पहली शरीरिशरीरप्ररूपणामें इन दोनोंका विस्तारसे निरूपण किया गया है। शरीरप्ररूपणामें औदारिकादि पांचों शरीरोंका अपनी अनेक अवान्तर विशेषताओंके साथ विचार किया गया है। शरीर त्रिस्रोपचयप्ररूपणामें पांचों शरीरोंके त्रिस्रोपचयके सम्बन्धके कारणभूत स्निग्ध और रूक्ष गुणके अविभागप्रतिच्छेदोंका

निरूपण किया गया है। विस्त्रसोपचयप्ररूपणामें जीवके द्वारा छोड़े गये परमाणुओंके विस्त्रसोपचयका निरूपण किया गया है।

## ६ छठे खण्ड महाबन्धका विषय-परिचय

यतः षट्खण्डागमके दूसरे खण्डमें कर्मबन्धका संक्षेपसे वर्णन किया गया है, अतः उसका नाम खुदाबन्ध या क्षुद्रबन्ध प्रसिद्ध हुआ। किन्तु छठे खण्डमें बन्धके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप चारों प्रकारके बन्धोंका अनेक अनुयोगद्वारोंसे विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है, इसलिए इसका नाम महाबन्ध रखा गया है।

जीवके राग-द्वेषादि परिणामोंका निमित्त पाकर कर्मणवर्णनाओंका जीवके आत्म-प्रदेशोंके साथ जो संयोग होता है, उसे बन्ध कहते हैं। बन्धके चार भेद हैं— प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। प्रकृति शब्दका अर्थ स्वभाव है। जैसे गुड़की प्रकृति मधुर और नीमकी प्रकृति कटुक होती है, उसी प्रकार आत्माके साथ सम्बद्ध हुए कर्मपरमाणुओंमें आत्माके ज्ञान-दर्शनादि गुणोंको आवरण करने या सुखादि गुणोंके घात करनेका जो स्वभाव पड़ता है, उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं। वे आये हुए कर्मपरमाणु जितने समय तक आत्माके साथ बंधे रहते हैं, उतने कालकी मर्यादाको स्थितिबन्ध कहते हैं। उन कर्मपरमाणुओंमें फल प्रदान करनेकी जो सामर्थ्य होती है, उसे अनुभागबन्ध कहते हैं। आत्माके साथ बंधनेवाले कर्मपरमाणुओंका ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूपसे और उनकी उत्तर प्रकृतियोंके रूपसे जो बटवारा होता है, उसे प्रदेशबन्ध कहते हैं। इस प्रकार बन्धके चार भेद हैं। प्रस्तुत खण्डमें इन्हीं चारोंका वर्णन इतने विस्तारके साथ आ० भूतबलिने किया है कि उसका परिमाण प्रारम्भके पांचों खण्डोंके प्रमाणसे भी पाच गुना हो गया है। इतने विस्तारके रचे जानेके कारण परवर्ती आचार्योंको उसकी टीका या व्याख्या करनेकी आवश्यकता भी नहीं प्रतीत हुई। इसका प्रमाण तीस हजार श्लोक माना जाता है।

यद्यपि महाबन्धके प्रारम्भके कुछ ताड़पत्रोंके टूट जानेसे प्रकृतिबन्धका प्रारम्भिक अंश विनष्ट हो गया है, तथापि स्थितिबन्ध आदिकी वर्णनशैलीको देखनेसे ज्ञात होता है कि प्रकृतिबन्धका वर्णन जिन चौबीस अनुयोगद्वारोंसे करनेका प्रारम्भमें निर्देश रहा होगा, उनके नाम इस प्रकार होना चाहिए—

१ प्रकृतिसमुत्कीर्तन, २ सर्वबन्ध, ३ नोसर्वबन्ध, ४ उत्कृष्टबन्ध, ५ अनुत्कृष्टबन्ध, ६ जघन्यबन्ध, ७ अजघन्यबन्ध, ८ सादिबन्ध, ९ अनादिबन्ध, १० ध्रुवबन्ध, ११ अध्रुवबन्ध, १२ एकजीवकी अपेक्षा स्वामित्व, १३ काल, १४ अन्तर, १५ सन्निकर्ष, १६ नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, १७ भागाभाग, १८ परिमाण, १९ क्षेत्र, २० स्पर्शन, २१ काल, २२ अन्तर, २३ भाव और अल्पबहुत्व।

यहां इतना और भी जान लेना चाहिए कि आ० भूतबलिने इन्हीं चौबीस अनुयोग-द्वारोंसे स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धका भी वर्णन किया है। केवल पहले प्रकृतिसमुत्कीर्तन अनुयोगद्वारके स्थानपर स्थितिबन्धकी प्ररूपणामें अद्वाच्छेद और अनुभागबन्धकी प्ररूपणामें संज्ञा नामक अनुयोगद्वारको कहा है। इसी प्रकार चौबीसों अनुयोगद्वारोंसे स्थितिबन्धकी प्ररूपणा करनेके पश्चात् भुजाकार, पदनिक्षेप और वृद्धि इन तीन अनुयोगद्वारोंके द्वारा भी उसका वर्णन किया है। तथा उक्त चौबीस अनुयोगद्वारोंसे अनुभागबन्धकी प्ररूपणा करनेके पश्चात् भुजाकार, पदनिक्षेप, वृद्धि और स्थान इन चार अनुयोगद्वारोंके द्वारा भी अनुभागबन्धका वर्णन किया गया है। प्रदेशबन्धकी प्ररूपणा भी उक्त चौबीस अनुयोगद्वारोंसे की गई है। केवल पहले अनुयोगद्वारके स्थानपर स्थान नामका अनुयोगद्वार कहा है और अन्तमें भुजाकार, पदनिक्षेप, वृद्धि, अध्यवसान-समुदाहार और जीवसमुदाहार इन पांच और भी अनुयोगद्वारोंसे प्रदेशबन्धका निरूपण किया गया है। यहां इतना और विशेष ज्ञातव्य है कि प्रदेशबन्धमें भागाभागका कथन मध्यमें न करके प्रारम्भमें ही किया गया है।

चारों प्रकारके बन्धोंका पृथक्-पृथक् चौबीसों अनुयोगद्वारोंसे वर्णन करनेपर बहुत विस्तार हो जायगा, इसलिए सभी बन्धोंका एक साथ ही संक्षेपसे स्वरूप-निरूपण किया जाता है।

**१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन**— इस अनुयोगद्वारमें मूल प्रकृतियों और उनकी उत्तर प्रकृतियोंकी संख्या बतलाई गई है। यथा— मूल कर्म आठ है— ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनकी उत्तर प्रकृतियां क्रमशः पांच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, व्यालीस, दो और पांच हैं। ज्ञानावरणकी पांचों प्रकृतियोंका ठीक उसी प्रकारसे विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, जिस प्रकारसे कि वर्गणाखण्डके अन्तर्गत प्रकृति अनुयोगद्वारमें है। शेष कर्मोंकी प्रकृतियोंकी संख्याका महाबन्धमें निर्देश मात्र ही है, जब कि प्रकृति अनुयोगद्वारमें प्रत्येक कर्मकी सभी प्रकृतियोंको पृथक्-पृथक् गिनाया गया है। यतः आ० भूतबलि प्रकृति-अनुयोगद्वारमें उक्त वर्णन विस्तारसे कर आये है, अतः यहांपर 'यथा पगादिभंगो तथा कादव्यो' कह कर उन्होंने इस अनुयोगद्वारको समाप्त कर दिया है।

स्थितिबन्धकी प्ररूपणामें पहला अनुयोगद्वार अद्वाच्छेद है। अद्वा अर्थात् कर्मस्थितिरूप कालका अबाधासहित और अबाधारहित कर्म-निषेकरूपसे छेद अर्थात् विभागरूप वर्णन इस अनुयोगद्वारमें किया गया है। एक समयमें बंधनेवाले कर्मपिण्डकी जितनी स्थिति होती है, उसमें अबाधाकालके बाद की स्थितिमें ही निषेक रचना होती है। आयुकर्म इसमें अपवाद है, उसकी जितनी स्थिति बंधती है, उसमें ही निषेक रचना होती है। उसका अबाधाकाल तो पूर्व भवकी मुज्यमान आयुमें ही होता है, अतः बध्यमान आयुकी पूरी स्थितिप्रमाण निषेक रचना कही गई

है। इस अनुयोगद्वारमें आठों मूल कर्मों और उनकी उत्तर प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थितियोंका, उनके अबाधाकालों और निषेककालोंका बहुत विस्तारसे निरूपण किया गया है।

अनुभागबन्धकी प्ररूपणा करनेवाले चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे पहला अनुयोगद्वार संज्ञा-प्ररूपणा है। इस अनुयोगद्वारमें कर्मोंके स्वभाव, शक्ति या गुणके अनुसार विशिष्ट संज्ञा ( नाम ) रखकर उनके अनुभागका विचार किया गया है। संज्ञाके दो भेद हैं— घातिसंज्ञा और स्थानसंज्ञा। घातिसंज्ञामें कर्मोंके अनुभागका सर्वघाती और देशघातीके रूपसे विचार किया गया है। स्थान-संज्ञामें कर्मोंके अनुभागका लता, दारु, अस्थि और शैल इन चार प्रकारके स्थानोंसे विचार किया गया है।

प्रदेशबन्धकी प्ररूपणामें चौबीस अनुयोगद्वारोंके क्रमानुसार पहला अनुयोगद्वार स्थान-प्ररूपणा नामका है। इसके दो भेद किये गये हैं— योगस्थानप्ररूपणा और प्रदेशबन्धप्ररूपणा। योगस्थानप्ररूपणामें पहले उत्कृष्ट और जघन्य योगस्थानोंका चौदह जीवसमासोंके आश्रयसे अल्पबहुत्व कहा गया है। तत्पश्चात् प्रदेशअल्पबहुत्वका विचार अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा और अल्पबहुत्व इन दश अनुयोगद्वारोंके द्वारा विस्तारसे किया गया है।

भागाभागप्ररूपणा नामक अनुयोगद्वार चौबीसों अनुयोगद्वारोंमें यद्यपि सत्रहवां है, तथापि आ. भूतबलिने प्रदेशबन्धकी प्ररूपणामें कर्मोंके भागाभागका विचार सबसे पहले किया है। इसका कारण यह रहा है कि बन्धके समयमें आनेवाले कर्मपरमाणुओंके विभाजनका ही नाम प्रदेशबन्ध है। उसके जाने बिना आगेके अनुयोगद्वारोंका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता था, अतः आचार्यने उसकी प्ररूपणा करना पहले आवश्यक समझा है।

भागाभागप्ररूपणामें बतलाया गया है कि यदि किसी जीवके विवक्षित समयमें आठों कर्मोंका बन्ध हो रहा है, तो उस समयमें जितने कर्मपरमाणु आवेगे, उनमेंसे आयुकर्मको सबसे कम भाग मिलता है, क्योंकि आयुकर्मका स्थितिवन्ध अन्यकर्मोंकी अपेक्षा सबसे कम है। आयुकर्मकी अपेक्षा नाम और गोत्र कर्मको विशेष अधिक भाग मिलता है। उनसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्मको विशेष अधिक भाग मिलता है और उनसे मोहनीय कर्मको विशेष अधिक भाग मिलता है। यतः इन सब कर्मोंका स्थितिवन्ध उत्तरोत्तर अधिक है। अतः प्रदेशोंका विभाग भी उत्तरोत्तर अधिक प्राप्त होता है। मोहनीयकर्मसे अधिक भाग वेदनीयकर्मको मिलता है, हालांकि उसका स्थितिवन्ध मोहनीयकी अपेक्षा कम है। इसका कारण यह बतलाया गया है कि वह जीवोंके सुख और दुःखमें कारण पड़ता है। इसलिए उसकी निर्जरा बहुत होती है। यदि वेदनीयकर्म न हो, तो सब कर्म जीवको सुख और दुःख उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हैं, इसलिए



उसे सबसे अधिक भाग मिलता है। यह तो मूल प्रकृतियोंमें भागाभागका क्रम कहा। इसी प्रकारसे उत्तरप्रकृतियोंमें भी बहुत विस्तारसे कर्मप्रदेशोंके भागाभागका विचार किया गया है।

अब शेष अनुयोगद्वारोंसे चारों प्रकारके बन्धोंका एक साथ विचार किया जाता है—

( २-३ ) सर्वबन्ध-नोसर्वबन्ध प्ररूपणा- जिस कर्मकी जितनी प्रकृतियां हैं, उन सबके बन्ध करनेको सर्वबन्ध कहते हैं और उससे कम कर्मबन्ध करनेको नोसर्वबन्ध कहते हैं। ज्ञानावरण और अन्तरायकर्मका सर्वबन्ध ही होता है, नोसर्वबन्ध नहीं होता। दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्मका सर्वबन्ध भी होता है और नोसर्वबन्ध भी होता है। वेदनीय, आयु और गोत्रकर्मका तो सर्वबन्ध ही होता है, क्योंकि इनकी प्रकृतियां सप्रतिपक्षी हैं, अतः एक साथ किसी भी जीवके सबका बन्ध सम्भव नहीं है। यह प्रकृतिबन्धका वर्णन हुआ। स्थितिबन्धकी अपेक्षा जिसकर्मकी जितनी सर्वोत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई है, उस सबका बन्ध करना सर्वबन्ध है और उससे कम स्थितिका बन्ध करना नोसर्वबन्ध है। अनुभागबन्धकी अपेक्षा जिस कर्ममें अनुभाग सम्बन्धी सर्व स्पर्धक पाये जाते हैं, वह सर्वानुभागबन्ध है और जिसमें उससे कम स्पर्धक पाये जाते हैं, वह नोसर्वानुभागबन्ध है। प्रदेशबन्धकी अपेक्षा विवक्षित कर्मके सर्व प्रदेशोंका बन्ध होना सर्वबन्ध है और उससे कम प्रदेशोंका बन्ध होना नोसर्वबन्ध है।

( ४-५ ) उत्कृष्टबन्ध-अनुत्कृष्टबन्धप्ररूपणा- प्रकृतिबन्धमें उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट बन्धकी प्ररूपणा सम्भव नहीं है। स्थितिबन्धकी अपेक्षा जिस कर्मकी जितनी सर्वोत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई है, उसके बन्धको उत्कृष्ट बन्ध कहते हैं। जैसे मोहनीयकर्मका सत्तरकोड़ाकोड़ी प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होनेपर अन्तिम निषेकको उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कहा जायगा। उत्कृष्ट स्थितिबन्धमेंसे एक समय कम आदि जितने भी स्थितिके विकल्प हैं, उन्हें अनुत्कृष्ट स्थितिबन्ध कहा जायगा। अनुभागबन्धकी अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट अनुभागको बांधना उत्कृष्ट बन्ध है और उससे न्यून अनुभागको बांधना अनुत्कृष्टबन्ध है। प्रदेश बन्धकी अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट प्रदेशोंका बन्ध करना उत्कृष्ट बन्ध है और उससे कम प्रदेशोंका बन्ध करना अनुत्कृष्ट बन्ध है।

( ६-७ ) जघन्यबन्ध-अजघन्यबन्ध प्ररूपणा- प्रकृति बन्धमें जघन्य-अजघन्य-बन्धकी प्ररूपणा सम्भव नहीं है। स्थितिबन्धकी अपेक्षा कर्मोंकी सबसे जघन्य स्थितिका बन्ध होना जघन्यबन्ध है और उससे ऊपरकी स्थितियोंका बन्ध होना अजघन्यबन्ध है। अनुभागबन्धकी अपेक्षा सबसे जघन्य अनुभागका बन्ध होना जघन्यबन्ध है और उससे अधिक अनुभागका बन्ध होना अजघन्यबन्ध है। प्रदेशबन्धकी अपेक्षा सर्व जघन्य प्रदेशोंका बन्धना जघन्यबन्ध है और उससे अधिक प्रदेशोंका बन्धना अजघन्यबन्ध है।

( ८-११ ) सादि-अनादि-ध्रुव-अध्रुव प्ररूपणा- कर्मका जो बन्ध एक बार होकर और फिर रुककर पुनः होता है, वह सादिबन्ध है। बन्धव्युच्छित्तिके पूर्वतक अनादिकालसे जिसका बन्ध होता चला आ रहा है, वह अनादिबन्ध कहलाता है। अभव्योंके निरन्तर होनेवाले बन्धको ध्रुवबन्ध कहते हैं और कभी कभी होनेवाले भव्योंके बन्धको अध्रुवबन्ध कहते हैं। कर्मोंकी मूल और उत्तर प्रकृतियोंमेंसे किस प्रकृतिके उक्त चारमेंसे कितने बन्ध होते हैं और कितने नहीं, इसका चारों बन्धोंकी अपेक्षा विस्तारसे विचार महाबन्धमें किया गया है।

( १२ ) स्वामित्वप्ररूपणा- इस अनुयोगद्वारमें मूल और उत्तर प्रकृतियोंके प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धके उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य बन्ध करनेवाले स्वामियोंका विस्तारसे विवेचन किया गया है।

( १३ ) एकजीवकी अपेक्षा कालप्ररूपणा- इस अनुयोगद्वारमें एकजीवके विवक्षित कर्मप्रकृतिका, उसकी स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्धका उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्यरूप बन्ध लगातार कितनी देर तक होता रहता है, इसका गुणस्थान और मार्गणास्थानोंकी अपेक्षा विस्तारसे विचार किया गया है। जैसे मोहनीयकर्मके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका जघन्य काल एक समय है और लगातार उत्कृष्ट बन्धका उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है। अनुत्कृष्टबन्धका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन प्रमाण अनन्तकाल है। जघन्य स्थितिबन्ध जघन्य और उत्कृष्टकाल एक समय है। अजघन्य बन्धका अनादि-अनन्त और अनादि-सान्त काल है।

( १४ ) अन्तरप्ररूपणा- इस अनुयोगद्वारमें विवक्षित प्रकृतिका बन्ध होनेके अनन्तर पुनः कितने कालके पश्चात् फिर उसी विवक्षित प्रकृतिका बन्ध होता है, इस बन्धाभावरूप मध्यवर्ती कालका विचार किया गया है। जैसे मोहकर्मके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका जघन्य अन्तरकाल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर असंख्यात पुद्गलपरिवर्तनप्रमाण अनन्तकाल है। मोहकर्मकी जघन्य स्थितिबन्धका अन्तर सम्भव नहीं है; क्योंकि मोहनीयकर्मकी जघन्य स्थितिका बन्ध क्षपकश्रेणीवाले जीवके नवें गुणस्थानमें होता है, उसका पुनः लौटकर सम्भव ही नहीं है। अजघन्य बन्धका जघन्य अन्तरकाल एक समय और उत्कृष्ट अन्तरकाल अन्तर्मुहूर्त है। इस प्रकार सभी मूल और उत्तर प्रकृतियोंको चारों प्रकारके बन्धोंके अन्तरकालकी प्ररूपणा ओघ और आदेशसे बहुत विस्तारके साथ की गई है।

( १५ ) सन्निकर्षप्ररूपणा- विवक्षित किसी एक कर्मप्रकृतिका बन्ध करनेवाला जीव उसके सिवाय अन्य कौन-कौनसी प्रकृतियोंका बन्ध करता है और किस-किस प्रकृतिका बन्ध नहीं करता, इस बातका विचार प्रकृतिबन्धकी सन्निकर्षप्ररूपणामें किया गया है। इसी प्रकार स्थितिबन्धकी सन्निकर्षप्ररूपणामें इस बातका विचार किया गया है कि किसी एक कर्मकी उत्कृष्ट

स्थितिका बन्ध करनेवाला जीव अन्य कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध करता है, अथवा अनुकृष्ट स्थितिका । अनुभागबन्धकी सन्निकर्षप्ररूपणमें यही विचार अनुभागको लेकर किया गया है कि अमुक कर्मके उत्कृष्ट अनुभागका बन्ध करनेवाला जीव उसी समयमें अन्य दूसरे कर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करता है, या अनुकृष्ट ? प्रदेशबन्धकी सन्निकर्षप्ररूपणमें यह विचार किया गया है कि विवक्षितकर्मके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धको करनेवाला जीव उसी समय बंधनेवाले अन्य कर्मोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धको करता है, अथवा अनुकृष्ट प्रदेशबन्धको करता है । इस प्रकार इस अनुयोग-द्वारमें मूल और उत्तर प्रकृतियोंके चारों बन्धोंका सन्निकर्ष ओष और आदेशसे बहुत विस्तारके साथ किया गया है ।

( १६ ) नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय— इस अनुयोगद्वारमें नाना जीवोंकी अपेक्षा चारों प्रकारके बन्ध करनेवाले जीवोंके भंगोंका विचार किया गया है । जैसे प्रकृतिबन्धकी अपेक्षा विवक्षित किसी एक समयमें ज्ञानावरणादि कर्मोंका बन्ध करनेवाले अनेक जीव पाये जाते हैं और अनेक अबन्धक भी पाये जाते हैं । अर्थात् दशवें गुणस्थान तकके जीव तो ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोंके बन्धकरूपसे सदा पाये जाते हैं, किन्तु ग्यारहवेंसे ऊपरके गुणस्थानवाले जीव उन कर्मोंके अबन्धक ही हैं । स्थितिबन्धकी अपेक्षा आठों कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध करनेवाला कदाचित् एक भी जीव नहीं पाया जाता । कदाचित् एक पाया जाता है और कदाचित् नाना पाये जाते हैं । इसी प्रकार कर्मोंकी अनुकृष्ट स्थितिके बन्धक जीव कदाचित् सब होते हैं, कदाचित् एक कम सब होते हैं और कदाचित् नाना होते हैं । इसलिए अबन्धकोंको मिलाकर इनके भंग इस प्रकार होते हैं— कदाचित् ज्ञानावरणकर्मकी उत्कृष्ट स्थितिके सब अबन्धक होते हैं, कदाचित् बहुत जीव अबन्धक और एक जीव बन्धक होता है, कदाचित् अनेक जीव अबन्धक और अनेक जीव बन्धक होते हैं । इसी प्रकार अनुकृष्ट, जघन्य और अजघन्य स्थितिबन्ध करनेवाले जीवोंके भंगोंका विचार इस अनुयोगद्वारमें किया गया है । अनुभागबन्धकी अपेक्षा आठों कर्मोंके उत्कृष्ट अनुभागके कदाचित् सब जीव अबन्धक हैं, कदाचित् नाना जीव अबन्धक हैं और एक जीव बन्धक है । कदाचित् नाना जीव अबन्धक हैं और नाना जीव बन्धक हैं । इसी प्रकार अनुकृष्ट जघन्य और अजघन्य अनुभागबन्ध करनेवाले जीवोंके भंगोंका भी विचार इस अनुयोग-द्वारमें किया गया है । इसी प्रकार प्रदेशबन्धके संभव भंगोंको भी जानना चाहिए । इस प्रकार इस अनुयोगद्वारमें सभी मूल और उत्तर प्रकृतियोंके चारों प्रकारके बन्धोंके भंगोंका ओष और आदेशसे बहुत विस्तारके साथ विचार किया गया है ।

( १७ ) भागाभागप्ररूपणा— इस अनुयोगद्वारमें विवक्षित कर्म-प्रकृतिके चारों प्रकारके बन्ध करनेवाले जीव सर्व जीवराशिके कितने भागप्रमाण हैं, और कितने भागप्रमाण जीव उसके अबन्धक है, इस प्रकारसे भाग और अभागका विचार किया गया है । जैसे प्रकृतिबन्धकी अपेक्षा

पांच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, एक मिथ्यात्व, सोलह कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस, कार्मण, वर्ण-चतुष्क, अगुरुलघु, उपधात, निर्माण और पांच अन्तराय इतनी प्रकृतियोंके बन्ध करनेवाले जीव सर्व जीवराशिके अनन्त बहुभागप्रमाण हैं, तथा अबन्धक जीव सर्व जीवराशिके अनन्तवें भागप्रमाण हैं। सातावेदनीयके बन्धक जीव सर्व जीवराशिके संख्यातवें भाग हैं और अबन्धक सर्व जीवोंके संख्यात बहुभाग हैं। असाताके बन्धक सब जीवोंके संख्यातबहुभाग हैं और अबन्धक संख्यातवें भाग हैं। इसी प्रकार स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध करनेवाले जीवोंके भागाभागका विचार उत्कृष्ट-अनुकृष्ट और जघन्य-अजघन्यपदोंका आश्रय लेकर गुणस्थानों और मार्गारस्थानोंमें बहुत विस्तारसे किया गया है।

( १८ ) परिमाणप्ररूपणा— इस अनुयोगद्वारमें एक समयके भीतर अमुक प्रकृतिके, अमुक जातिकी स्थितिके, अमुक जातिके अनुभागके और अमुक जातिके प्रदेशोंका बन्ध करनेवाले और नहीं करनेवाले जीवोंके परिमाण (संख्या) का निरूपण किया गया है। जैसे— पांच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, एक मिथ्यात्व, सोलह कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस, कार्मणशरीर, वर्णचतुष्क, अगुरुलघुचतुष्क, आतप, उद्योत, निर्माण, तथा पांच अन्तराय; इतनी प्रकृतियोंके बन्ध करनेवाले भी जीव अनन्त हैं और बन्ध नहीं करनेवाले भी जीव अनन्त हैं। स्थितिबन्धकी अपेक्षा आठों ही कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध करनेवाले जीव असंख्यात हैं। अनुकृष्ट स्थितिका बन्ध करनेवाले जीव अनन्त हैं। सात कर्मोंकी जघन्य स्थितिका बन्ध करनेवाले जीव संख्यात हैं, क्योंकि जघन्य स्थितिका बन्ध क्षपकश्रेणीमें ही होता है। अजघन्य स्थितिका बन्ध करनेवाले जीव अनन्त हैं। आयुकर्मकी जघन्य और अजघन्य स्थितिका बन्ध करनेवाले जीव अनन्त हैं। अनुभाग-बन्धकी अपेक्षा चारों धातिया कर्मोंके उत्कृष्ट अनुभागके बन्ध करनेवाले जीव असंख्यात हैं। अनुकृष्ट अनुभागके बन्ध करनेवाले अनन्त हैं। जघन्य अनुभागके बन्ध करनेवाले संख्यात हैं और अजघन्य अनुभागके बन्ध करनेवाले अनन्त हैं। प्रदेशबन्धकी अपेक्षा तीन आयु और वैक्रियिकषट्कका उत्कृष्ट और अनुकृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीव असंख्यात हैं। आहारकशरीर और आहारक-अंगोपांगका उत्कृष्ट और अनुकृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीव संख्यात हैं। तीर्थकर-प्रकृतिका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीव संख्यात हैं और अनुकृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले असंख्यात हैं। शेषप्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीव असंख्यात हैं और अनुकृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीव अनन्त हैं। इस प्रकार सभी प्रकृतियोंके जघन्य और अजघन्य प्रदेशबन्ध करनेवाले जीवोंके परिमाणका निरूपण ओघ और आदेशसे इस अनुयोगद्वारमें किया गया है।

( १९ ) क्षेत्रप्ररूपणा— इस अनुयोगद्वारमें ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियोंसे चारों प्रकारके बन्ध करनेवाले जीवोंके वर्तमानक्षेत्रकी प्ररूपणा ओघ और आदेशसे बड़े विस्तारके साथ की गई है, जो कि प्रस्तुत ग्रन्थके जीवस्थानकी क्षेत्रप्ररूपणाके आधारपर सहजमें ही जानी जा सकती है।

( २० ) **स्पर्शनप्ररूपणा**— इस अनुयोगद्वारमें कर्मप्रकृतियोंके बन्ध करनेवाले जीवोंके त्रैकालिक स्पर्शनक्षेत्रकी प्ररूपणा ओघ और आदेशसे विस्तारके साथ की गई है । इसे भी जीवस्थानकी स्पर्शनप्ररूपणाके आधारपर सहजमें जाना जा सकता है । वहासे भेद केवल इतना है कि यहांपर प्रकृतिबन्धमें अमुक प्रकृतिका बंध करनेवाले जीवोंका वर्तमान और भूतकालिक क्षेत्र बतलाया गया है । स्थितिबन्धमें कर्मोंकी उत्कृष्ट, अनुकृष्ट, जघन्य और अजघन्य स्थितियोंके बन्धका आश्रय लेकर, अनुभागबन्धमें कर्मोंके उत्कृष्ट-अनुकृष्ट आदि अनुभागका आश्रय लेकर और प्रदेशबन्धमें उत्कृष्ट-अनुकृष्ट आदि प्रदेशोंका आश्रय लेकर स्पर्शनक्षेत्रकी प्ररूपणा की गई है ।

( २१ ) **कालप्ररूपणा**— इस अनुयोगद्वारमें नाना जीवोंकी अपेक्षा चारों प्रकारके बन्धोंको उत्कृष्ट-अनुकृष्ट और जघन्य- अजघन्य कालकी प्ररूपणा की गई है । जैसे प्रकृतिबन्धकी अपेक्षा ज्ञानावरणादि प्रकृतियोंके बन्ध करनेवाले जीव भी सर्वकाल पाये जाते हैं और उनका बन्ध नहीं करनेवाले भी सर्वकाल पाये जाते हैं । स्थितिबन्धकी अपेक्षा सात कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिके बन्ध करनेवाले जीवोंका जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल पत्यके असंख्यातवें भागप्रमाण है । इन्हीं कर्मोंकी अनुकृष्ट स्थितिका बन्ध करनेवाले जीव सर्वदा पाये जाते हैं । आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध करनेवाले जीवोंका जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल आवलीके असंख्यातवें भागप्रमाण है । अनुकृष्ट स्थितिका बन्ध करनेवाले जीवोंका सब काल है । सातों कर्मोंकी जघन्य स्थितिका बन्ध करनेवाले जीवोंका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । इन्हीं कर्मोंकी अजघन्य स्थितिका बन्ध करनेवाले जीवोंका काल सर्वदा है । आयुकर्मकी जघन्य और अजघन्य स्थितिके बन्ध करनेवालोंका काल सर्वदा है । अनुभागबन्धकी अपेक्षा चार घातिया कर्मोंके उत्कृष्ट अनुभागके बन्ध करनेवाले जीवोंका जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल आवलीके असंख्यातवें भागप्रमाण है । अनुकृष्ट अनुभागके बन्ध करनेवालोंका काल सर्वदा है । चारों घातिया कर्मोंके उत्कृष्ट अनुभागके बन्धका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल संख्यात समय है । इन्हीं कर्मोंके अनुकृष्ट अनुभागके बन्धका काल सर्वदा है । चारों घातिया कर्मोंके जघन्य अनुभागके बन्धका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल संख्यात समय है । इन्हींके अजघन्य अनुभागके बन्धका काल सर्वदा है । वेदनीय, आयु और नामकर्मके जघन्य और अजघन्य अनुभागके बन्धका काल सर्वदा है । गोत्रकर्मके जघन्य अनुभागके बन्धका जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल आवलीके असंख्यातवें भागप्रमाण है । अजघन्य अनुभागके बन्धका काल सर्वदा है । प्रदेशबन्धकी अपेक्षा मोहकर्मके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल आवलीके असंख्यातवें भागप्रमाण है । अनुकृष्ट प्रदेशबन्धका काल सर्वदा है । जघन्य प्रदेशबन्धका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल संख्यात समय है । अजघन्य प्रदेशबन्धका काल सर्वदा है । इस प्रकार इस अनुयोगद्वारमें ओघ और आदेशकी अपेक्षा सभी

मूल और उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्ट-अनुकृष्टादि चारों प्रकारके बन्धोंके जघन्य और अजघन्य कालकी प्ररूपणा बहुत विस्तारसे की गई है ।

( २२ ) अन्तरप्ररूपणा— इस अनुयोगद्वारमें नानाजीवोंकी अपेक्षा पांच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, भय, जुगुप्सा, आहारक द्विक, तैजस, कार्मणशरीर, वर्णचतुष्क, अगुरुलघुचतुष्क, आतप, उद्योत, निर्माण, तीर्थकर और पांच अन्तराय इतनी प्रकृतियोंके बन्धका अन्तर नहीं होता है । नरक, मनुष्य और देवायुके बन्धकोंका जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर चौबीस मुहूर्त है । तिर्यगायुके बन्धकोंका अन्तर नहीं होता । शेष प्रकृतियोंके बन्धकोंका अन्तर नहीं होता है । स्थितिबन्धकी अपेक्षा आठों कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिको बन्ध करनेवाले जीवोंका जघन्य अन्तरकाल एक समय है और उत्कृष्ट अन्तरकाल असंख्यात उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी कालप्रमाण है । अनुकृष्ट स्थितिके बन्धक जीवोंका अन्तर नहीं होता । सात कर्मोंकी जघन्य स्थितिके बन्धक जीवोंका जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर छह मास है । अजघन्य स्थितिके बन्ध करनेवालोंका अन्तर नहीं होता । आयुर्कर्मकी जघन्य और अजघन्य स्थितिके बन्धक जीवोंका अन्तर नहीं होता । अनुभागबन्धकी अपेक्षा चार घातियाकर्म और आयुर्कर्मके उत्कृष्ट अनुभागके बन्ध करनेवाले जीवोंका जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर असंख्यात लोकप्रमाण काल है । अनुकृष्ट अनुभागके बन्धक जीवोंका अन्तर नहीं होता है । वेदनीय, नाम और गोत्रकर्मके उत्कृष्ट अनुभागके बन्धक जीवोंका जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर छह मास है । अनुकृष्ट अनुभागके बन्धक जीवोंका अन्तर नहीं होता है । चार घातिया कर्मोंके जघन्य अनुभागके बन्ध करनेवाले जीवोंका जघन्य अन्तरकाल एक समय है और उत्कृष्ट अन्तरकाल छह मास है । अजघन्य अनुभागके बन्धक जीवोंका अन्तर नहीं होता है । वेदनीय, आयु और नामकर्मके जघन्य और अजघन्य अनुभागके बन्धक जीवोंका अन्तरकाल नहीं है । गोत्रकर्मके जघन्य अनुभागके बन्धक जीवोंका जघन्य अन्तरकाल एक समय है और उत्कृष्ट अन्तरकाल असंख्यात लोकप्रमाण है । अजघन्य अनुभागके बन्धक जीवोंका अन्तर नहीं होता है । प्रदेशबन्धकी अपेक्षा आठों कर्मोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवालोंका जघन्य अन्तरकाल एक समय है और उत्कृष्ट अन्तरकाल जगच्छ्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण है । अनुकृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवालोंका अन्तर नहीं होता । आठों ही कर्मोंके जघन्य और अजघन्य प्रदेशबन्ध करनेवाले जीवोंका भी अन्तर नहीं होता है इस प्रकारसे सभी उत्तर प्रकृतियोंके भी चारों प्रकारके बन्धोंका उत्कृष्ट-अनुकृष्ट आदि षडोंकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तरकालकी प्ररूपणा ओघ और आदेशसे विस्तारके साथ इस अनुयोगद्वारमें की गई है ।

[ २३ ] भावप्ररूपणा— इस अनुयोगद्वारमें चारों प्रकारके बन्ध करनेवाले जीवोंके भावोंका निरूपण किया गया है । जैसे प्रकृतिबन्धकी अपेक्षा आठों ही कर्मोंका बन्ध करनेवाले

जीवोंके औदयिक भाव होता है। उत्तर प्रकृतियोंके बन्ध करनेवाले जीवोंके औदयिक भाव होता है और उनमें गुणस्थानोंकी अपेक्षा जहां जितनी वा जिन प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता, उनके अबन्धकी अपेक्षा यथासम्भव औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव होता है। इसी प्रकार स्थितिबन्ध आदिके बन्ध करनेवाले जीवोंके भी भावोंका वर्णन ओघ और आदेशकी अपेक्षा किया गया है।

[ २४ ] अल्पबहुत्वप्ररूपणा— इस अनुयोगद्वारमें चारों प्रकारके बन्ध करनेवाले जीवोंके अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा स्वस्थान और परस्थानकी अपेक्षा दो प्रकारसे की गई है। जैसे स्वस्थानकी अपेक्षा चक्षुदर्शनावरणादि चारों दर्शनावरण प्रकृतियोंके अबन्धक जीव सबसे कम हैं। उनसे निद्रा-प्रचलाके अबन्धक जीव विशेष अधिक हैं। उनसे स्थानत्रिकके अबन्धक जीव विशेष अधिक हैं। उनसे उन्हीं स्थानत्रिकके बन्धक जीव अनन्तगुणित हैं। उनसे निद्रा-प्रचलाके बन्धक जीव विशेष अधिक हैं। उनसे चक्षुदर्शनावरणादि चारों प्रकृतियोंके बन्धक जीव विशेष अधिक हैं। जैसे यह दर्शनावरणीयकर्मका स्वस्थान अल्पबहुत्व कहा है, इसी प्रकार सभी कर्मोंके स्वस्थान अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा की गई है। परस्थान अल्पबहुत्वकी अपेक्षा आहारद्विकका बन्ध करनेवाले जीव सबसे कम हैं। उनसे तीर्थकर प्रकृतीके बन्धक जीव असंख्यात गुणित हैं, उनसे मनुष्यायुके बन्धक जीव असंख्यात गुणित हैं। उनसे नरकायुके बन्धक जीव असंख्यातगुणित हैं। उनसे देवायुके बन्धक जीव असंख्यातगुणित हैं। उनसे देवगतिके बन्धक जीव संख्यात गुणित हैं। उनसे नरकगतिके बन्धक जीव संख्यात गुणित हैं। उनसे वैक्रियिक शरीरके बन्धक जीव विशेष अधिक हैं। उनसे तिर्यग्गायुके बन्धक जीव अनन्तगुणित हैं। इत्यादि प्रकारसे बन्धयोग्य सभी प्रकृतियोंके अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा की गई है। इसी प्रकार स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्धके करनेवाले जीवोंके अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा ओघ और आदेशसे विस्तारके साथ इस अनुयोगद्वारमें की गई है।

**भुजाकारबन्ध—** आ. भूतबलिने चौवीस अनुयोगद्वारोंसे स्थितिबन्धकी प्ररूपणा करनेके पश्चात् भुजाकार, पदनिक्षेप और वृद्धि इन तीन अनुयोगद्वारोंसे भी स्थितिबन्धकी औरभी विशेष प्ररूपणा की है। पहले समयमें अल्प स्थितिका बन्ध करके अनन्तर समयमें अधिक स्थितिके बन्ध करनेको भुजाकार बन्ध कहते हैं। भुजाकार बन्धसेही अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य बन्धोंका भी ग्रहण किया जाता है। पहले समयमें अधिक स्थितिका बन्ध करके दूसरे समयमें अल्पस्थितिके बन्ध करनेको अल्पतर बन्ध कहते हैं। पहले समयमें जितनी स्थितिका बन्ध किया, दूसरे समयमें उतनी ही स्थितिके बन्ध करनेको अवस्थित बन्ध कहते हैं। विवक्षित कर्मके बन्धका अभाव हो जाने पर पुनः उसके बन्ध करनेको अवक्तव्य बन्ध कहते हैं। इस भुजाकार बन्धका समुत्कीर्तना, स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगत्रिचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन,

काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन तरह अनुयोगद्वारोंसे स्थितिबन्धका और भी विशेष वर्णन किया गया है ।

**पदनिक्षेप—** वृद्धि, हानि और अवस्थानरूप तीन पदोंके द्वारा स्थितिबन्धके वर्णन करनेको पदनिक्षेप कहते हैं । इस अनुयोगद्वारमें यह बतलाया गया है कि यदि कोई एक जीव प्रथम समयमें अपने योग्य जघन्य स्थितिका बन्ध करता है और द्वितीय समयमें वह स्थितिको बढ़ाकर बन्ध करता है, तो उसके बन्धमें अधिकसे अधिक कितनी वृद्धि हो सकती है और कमसे कम कितनी वृद्धि हो सकती है । इसी प्रकार यदि कोई जीव प्रथम समयमें उत्कृष्ट स्थितिबन्धको करके अनन्तर समयमें वह स्थितिको घटाकर बन्ध करता है, तो उस जीवके बन्धमें अधिकसे अधिक कितनी हानि हो सकती है और कमसे कम कितनी हानि हो सकती है । वृद्धि और हानि होनेके बाद जो एकसा समान स्थितिबन्ध होता है, उसे अवस्थित बन्ध कहते हैं । इस पदनिक्षेपका समुत्कीर्तना, स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन तीन अनुयोगद्वारोंसे वर्णन किया गया है ।

**वृद्धि—** इस अनुयोगद्वारमें षड्गुणी वृद्धि और हानिकेद्वारा स्थितिबन्धका विचार भुजाकार बन्धके समान तरह अधिकारोंसे किया गया है ।

अनुभागबन्धकी प्ररूपणा चौबीस अनुयोगद्वारोंसे करनेके बाद भुजाकार, पदनिक्षेप, वृद्धि और स्थान इन चार अनुयोगद्वारोंसे भी अनुभागकी प्ररूपणा की गई है । भुजाकारादि तीन का स्वरूप तो स्थितिबन्धके समान ही जानना चाहिए । केवल यहां स्थितिके स्थानपर अनुभाग कहना चाहिए । इन तीन अनुयोगद्वारोंसे अनुभागबन्धकी प्ररूपणा करनेके पश्चात् स्थान-अनुयोग-द्वारमें अनुभागबन्धके कारणभूत अध्यवसानस्थानोंकाभी अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा और तीव्र-मन्दता आदि अनेक अनुयोगद्वारोंसे अनुभाग सम्बन्धी अनेक सूक्ष्म बातोंकी विस्तृत प्ररूपणा की गई है ।

प्रदेशबन्धकी प्ररूपणा चौबीस अनुयोगद्वारोंसे करनेके पश्चात् भुजाकार, पदनिक्षेप, वृद्धि, अध्यवसान समुदाहार और जीवसमुदाहार इन पांच अनुयोगद्वारोंसे भी प्रदेशबन्धकी प्ररूपणा की गई है । भुजाकारादि तीनका स्वरूप पूर्ववत् है । केवल यहांपर अनुभागके स्थानपर प्रदेश जानना चाहिए । अध्यवसानसमुदाहारमें प्रदेशबन्ध स्थानोंकी और उनके कारणभूत योगस्थानोंके परिणाम और अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा की गई है । जीवसमुदाहारमें उक्त दोनोंकी प्ररूपणा प्रदेशबन्धके करनेवाले जीवोंके आधारसे की गई है ।

इस प्रकार भगवान् भूतबलिने प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्धका निरूपण बहुत विस्तारके साथ किया है, इसलिए इस छठे खण्डका नाम ' महाबन्ध ' प्रसिद्ध हुआ है ।



## गाथासूत्र

षट्खण्डागमके मूल सूत्रोंका आद्योपान्त पारायण करनेपर गद्यरूप सूत्रोंके अतिरिक्त गाथासूत्र भी वेदनाखण्डमें ५ और वर्गणाखण्डमें २८ उपलब्ध है। वेदनाखण्डके वेदनाभावविधान—अनुयोगद्वारका वर्णन करते हुए उत्तरप्रकृतियोंके अनुभाग-सम्बन्धी अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा करनेके लिए पहले तीन गाथासूत्र दिये हैं और उन्हींके आधारपर आगे सूत्र-रचना करते हुए आ० भूतबलि कहते हैं—

‘ एत्तो उक्कस्सओ चउसट्ठिपदियो महादंडओ कादव्वो भवदि । ’

(षट् खं० पृ. ६२१)

अर्थात् इससे आगे अब चौसठ पदवाला महादण्डक कथन करनेके योग्य है। और इसके अनन्तर वे ५२ सूत्रोंके द्वारा उन तीन गाथाओंके पदोंका विवरण करते हैं। इस चौसठ पदिक अल्पबहुत्वकी उत्थानिकामें धबलाकार लिखते हैं—

“ इन तीन गाथाओंद्वारा कहे गये चौसठ पदवाले उत्कृष्ट अनुभागके अल्पबहुत्वसम्बन्धी महादण्डकके अर्थकी प्ररूपणार्थ मन्दबुद्धि जनोंके अनुग्रहके लिए आचार्य उत्तरसूत्र कहते हैं—”

उन तीन गाथासूत्रोंमें पहली गाथा इस प्रकार है—

“ सार्द जसुच्च दे कं ते आ वे मणु अणंतगुणहीणा ।

ओ मिच्छ के असादं वीरिय अणंताणु संजलणा ॥ १ ॥ ”

इस गाथाके एक एक शब्द या पदको लेकर आ० भूतबलिनने १९ सूत्रोंकी रचना की है। यथा—

सव्वमंदाणुभागं सादा वेदणीयं ॥ ६६ ॥ जसगित्ती उच्चागोदं च दो वि तुल्लाणि अणंतगुणहीणाणि ॥ ६७ ॥ देवगदी अणंतगुणहीणा ॥ ६८ ॥ कम्मइयसरीरमणंतगुणहीणं ॥ ६९ ॥ तेयासरीरमणंतगुणहीणं ॥ ७० ॥ आहारसरीरमणंतगुणहीणं ॥ ७१ ॥ वेउव्वियसरीरमणंतगुणहीणं ॥ ७२ ॥ मणुसगदी अणंतगुणहीणा ॥ ७३ ॥ ओरालियसरीरमणंतगुणहीणं ॥ ७४ ॥ मिच्छत्तमणंतगुणहीणं ॥ ७५ ॥ केवलणाणावरणीयं केवलदंसणावरणीयं असादवेदणीयं वीरियंतराइयं च चत्तारि वि तुल्लाणि अणंतगुणहीणाणि ॥ ७६ ॥ अणंताणुबंधिलोभो अणंतगुणहीणो ॥ ७७ ॥ मायाविसेसहीणा ॥ ७८ ॥ क्रोधो विसेसहीणो ॥ ७९ ॥ माणो विसेसहीणो ॥ ८० ॥ संजलणाए लोभो अणंतगुणहीणो ॥ ८१ ॥ माया विसेसहीणा ॥ ८२ ॥ क्रोधो विसेसहीणो ॥ ८३ ॥ माणो विसेसहीणो ॥ ८४ ॥

( प्रस्तुत ग्रन्थ. ६२१—२२ )

यहां पर इतने बड़े उद्धरण देनेका प्रयोजन यह है कि पाठक स्वयं यह अनुभव कर सकें कि गाथा-पठित संकेतरूप एक एक शब्दसे किस प्रकार उसके पूरे अर्थका गद्यसूत्रोंके द्वारा

विवरण किया गया है। गाथासूत्र-द्वारा नामके आदि अक्षरसे उसके पूरे नामको ग्रहण करनेकी सूचना की गई है। यथा— 'साद' से सातावेदनीय, 'जस' से यशःकीर्त्ति, 'उच्च' से उच्च गोत्र, 'दे' से देवगति, 'क' से कार्मणशरीर, 'ते' से तैजसशरीर, 'आ' से आहारकशरीर, 'वे' से वैक्रियिकशरीर, और 'मणु' से मनुष्यगतिका अर्थ ग्रहण किया गया है। इन सब प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभाग उत्तरोत्तर अनन्तगुणित हीन है, इस बातकी सूचना गाथाके पूर्वार्धके अन्तमें पठित 'अणंतगुणहीणा' पदसे दी गई है।

नामके आदि अक्षरके द्वारा पूरे नामको ग्रहण करनेकी संकेतप्रणाली भारतवर्षमें बहुत प्राचीन कालसे चली आ रही है। द्वादशाङ्ग श्रुतमें ऐसे संकेतरूप पदोंको 'बीजपद' कहा गया है। किसी विस्तृत वर्णनको संक्षेपमें कहनेके लिए इन बीजपदोंका आश्रय लिया जाता रहा है। कसायपाहुडके मूल गाथा-सूत्रोंमें कितने ही गाथा-सूत्र ऐसे हैं, जिनके एक एक पद-द्वारा बहुत भारी विशाल अर्थको ग्रहण करनेकी सूचना गाथाकारने की है और व्याख्यानाचार्योंने उस एक एक पदके द्वारा सूचित महान अर्थका व्याख्यान अपने शिष्योंके लिए किया है।

प्रकृतमें कहनेका अभिप्राय यह है कि ऊपर दी गई गाथाको और उसके आधारपर रचे गये अनेक सूत्रोंको सामने रखकर जब हम षट्खण्डागमके समस्त गद्यसूत्रोंपर गहरी दृष्टि डालते हैं और उपलब्ध जैनवाङ्मयके साथ तुलना करते हैं, तो ऐसा कहनेको जी चाहता है कि आचार्य धरसेनने भूतबलि और पुष्पदन्तको जो महाकम्मपयडिपाहुड पढ़ाया था वह इसी प्रकारकी संकेतात्मक गाथाओंमें रहा होगा। इसका आभास धवला टीकाके उस अंशसे भी होता है, जिसमें कहा गया है कि "इस प्रकार अति सन्तुष्ट हुए धरसेन भट्टारकने शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र और शुभ वारमें 'ग्रन्थ' पढ़ाना प्रारम्भ किया और क्रमसे व्याख्यान करते हुए उन्होंने आषाढ शुक्ल एकादशीके पूर्वार्धमें 'ग्रन्थ' समाप्त किया।

धवला टीकाका वह अंश इस प्रकार है—

पुणो..... सुट्ठु तुट्ठेण धरसेणभंडारण सोम-तिहि-णक्खत्तवारे 'गंथो' पारद्धो ।  
पुणो कमेण वक्खणांतेण आसाढमास-सुक्कपक्ख-एक्कारसीए पुव्वण्हे 'गंथो' समाणितो ।

(धवला, पृ. १, पृ. ७०)

इस उद्धरणमें दो वार आया हुआ 'ग्रन्थ' शब्द और 'वक्खणांतेण' यह पद खास तौरसे ध्यान देनेके योग्य है। 'ग्रन्थ' शब्दका निःसक्ति-जनित अर्थ है— 'गूँथा मया' शास्त्र। यह गूँथनारूप शब्द-रचना गद्य और पद्य दोनों रूपमें सम्भव है, ऐसी आशंका यहां की जा सकती है। किन्तु कसायपाहुड आदिको देखते हुए और ऊपर-निर्दिष्ट एवं इस षट्खण्डागममें उपलब्ध अनेक सूत्र-गाथाओंको देखते हुए यह निःसंशय कहा जा सकता है कि आचार्य धरसेनको महाकम्मपयडिपाहुडके विशाल अर्थकी उपसंहार करनेवाली सूत्र-गाथाएँ आचार्यपरम्परासे प्राप्त थी,

जिनका कि 'व्याख्यान' उन्होंने अपने दोनों शिष्योंके लिए किया। अपनी इस बातके समर्थनमें इन्हीं गाथाओंमेंसे मैं कुछ ऐसी गाथाओंको प्रमाण रूपसे उपस्थित करता हूँ कि जिनका उल्लेख मात्र ही षट्खण्डागमकारने किया है, किन्तु उनका अर्थ-बोध सुगम होनेसे उनपर कोई सूत्ररचना पृथग् रूपसे नहीं की है। अर्थात् उन गाथाओंको ही अपने ग्रन्थका अंग बना लिया गया है। इसके लिए देखिए प्रकृतिअनुयोगद्वारके भीतर आई हुई अवधिज्ञानका वर्णन करनेवाली १५ गाथाएँ। ( प्रस्तुत ग्रन्थके पृ. ७०३ से ७०७ तक। )

परिशिष्टमें गाथासूत्र-पाठ दिया हुआ है। उनमेंसे प्रारम्भकी तीन गाथाओंपर ५२ सूत्र रचे गये हैं। ( देखो पृ. ६२१ से ६२४ तक ) उनसे आगेकी तीन गाथाओंपर ५६ सूत्र रचे गये हैं। ( देखो पृ. ६२४ से ६२७ तक ) उनसे आगेकी 'सम्मत्तुप्पत्तीए' इत्यादि दो गाथाओंपर २२ सूत्र रचे गये हैं। ( देखो पृ. ६२७ से ६२९ तक। )

यहां यह बात ध्यान देनेकी है कि इन गाथाओंके आधारपर रचे गये सूत्रोंको स्वयं ध्वलाकारने चूर्णिसूत्र कहा है। यथा—

( १ ) 'अट्ठामिणि—' इत्यादि दूसरी सूत्रगाथाकी टीका करते हुए शंका उठाई गई है कि 'कथं सव्वमिदं णव्वदे?' अर्थात् यह सब किस प्रमाणसे जाना जाता है? तो इसके समाधानमें कहा गया है कि 'उवरि भण्णमाणचुण्णिसुत्तादो', अर्थात् आगे कहे जानेवाले चूर्णिसूत्रसे जाना जाता है। ( देखो ध्वला पु. १२, पृ. ४२-४३ )

( २ ) 'तिय' इदि बुत्ते ओहिणाणावरणीय.....समाणणं गहणं। कथं समाणत्तं णव्वदे? उवरिभण्णमाणचुण्णिसुत्तादो। ( ध्वला पु. १२, पृ. ४३ )

इस उद्धरणमें भी यही शंका उठाई गई है कि 'तिय' पदसे अवधिज्ञानावरणीय आदि इन्हीं तीन प्रकृतियोंका कैसे ग्रहण किया गया है यह कैसे जाना? उत्तर दिया गया— कि आगे कहे जानेवाले चूर्णिसूत्रसे जाना।

उपर्युक्त दो उद्धरणोंके प्रकाशमें यह बात असंदिग्धरूपसे सिद्ध होती है कि उन गाथाओंके अर्थ-स्पष्टीकरणार्थ जो गद्यसूत्रोंकी रचना की गई है, उन्हें ध्वलाकार 'चूर्णिसूत्र' कर रहे हैं। ठीक वैसे ही, जैसे कि कसायपाहुडकी गाथाओंके अर्थ-स्पष्टीकरणार्थ यतिवृषभाचार्यद्वारा रचे गये सूत्रोंको उन्होंने [ वीरसेनाचार्यने ] चूर्णिसूत्र कहा है।

इसके अतिरिक्त जैसे यतिवृषभाचार्यने कसायपाहुडकी गाथाओंकी व्याख्या करते हुए 'विहासा, वेदादि त्ति विहासा' [ कसायपाहुड सुत्त पृ. ७६४-७६५ ] इत्यादि कह कर पुनः गाथाके अर्थको स्पष्ट करनेवाले चूर्णिसूत्रोंकी रचना की है, ठीक उसी प्रकारसे षट्खण्डागमके कितने ही स्थलोंपर हमें यही बात दृष्टिगोचर होती है, जिससे हमारे उक्त कथनकी और भी पुष्टि

होती है। यथा—

( १ ) ‘ कदि काओ पयडीओ बंधदि त्ति जं पदं तस्स विहासा ’ ।

[ प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. २५९ सू. २ ]

( २ ) ‘ केवडिकालड्ढिदीएहि कम्मेहि सम्मत्तं लब्भदि वा, ण लब्भदि वा त्ति विभासा ’ । [ प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. ३०१, सू. १ ]

यहां यह बात ध्यान देनेकी है कि उक्त दोनों उद्धरण जीवस्थानकी प्रथम चूलिकाके पहले सूत्र पर आधारित हैं, उस सूत्रकी शब्दावली और रचना-शैलीको देखते हुए यह भाव सहजमें ही हृदयपर अंकित होता है कि उस सूत्रकी रचना किन्हीं दो गाथाओंके आधारपर की गई है। वह सूत्र इस प्रकार है—

“ कदि काओ पयडीओ बंधदि, केवडिकालड्ढिदीएहि कम्मेहि सम्मत्तं लंभदि वा ण लभदि वा केवचिरेण वा कालेण कदि भाए वा कोरेदि मिच्छत्तं, उवसामणा वा खवणा वा केसु व खेत्तेसु कस्स व मूले केवडियं वा दंसणमोहणीयं कम्मं खवेत्तस्स चारित्तं वा संपुण्णं— पडिवज्जंतस्स । ’  
[ प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. २५९ सू. १ ]

मेरी कल्पनाके अनुसार इस सूत्रकी रचना जिन गाथाओंके आधारपर की गई है, वे गाथाएँ कुछ इस प्रकारकी होनी चाहिए—

कदि काओ पयडीओ बंधदि केवडिड्ढिदीहि कम्मेहिं ।

सम्मत्तं लब्भदि वा ण लब्भदि वा [ ५ गादियो जीवो ] ॥ १ ॥

केवचिरेण व कालेण कदि भाए वा कोरेदि मिच्छत्तं ।

उवसामणा व खवणा केसु व सेत्तेसु कस्स व मूले ॥ २ ॥

यहां यह बात ध्यान देनेकी है कि कोष्ठकान्तर्गत पाठके अतिरिक्त सब पद उपर्युक्त सूत्रके ही हैं, जिनसे कि गाथा निर्माण की गई है ।

ऊपर जिन आठ संकेतात्मक सूत्रगाथाओंका उल्लेख किया गया है, उनके अतिरिक्त प्रकृति-अनुयोगद्वारमें अवधिज्ञानकी प्ररूपणा करनेवाली १५ सूत्र गाथाएँ पाई जाती हैं, उनमेंसे अधिकांश तो ज्योंकी त्यों, और कुछ साधारणसे शब्दभेदके साथ प्राकृत पंचसंग्रह और गो० जीवकाण्डमें पाई जाती है । इसी प्रकार बन्धन अनुयोगद्वारके अन्तर्गत जो ९ सूत्र गाथाएँ आई हैं, वे भी उक्त ग्रन्थोंमें पाई जाती हैं । साथ ही ये सभी गाथाएँ ज्योंकी त्यों, या कुछ शब्दभेदके साथ श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थों और निर्युक्ति आदिमें पाई जाती हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि दि० श्वे० मत-भेद होनेके पूर्वसे ही उक्त गाथाएँ आचार्य-परम्परासे चली आ रही थीं

और समय पाकर वे दोनों सम्प्रदायोंके ग्रन्थोंका अंग बन गई ।

षट्खण्डागममें आई हुई सूत्रगाथाएँ अन्यत्र कहां कहां मिलती हैं, उसका विवरण इस प्रकार है—

| क्रमांक | षट्खण्डागम                      | पृष्ठ— | अन्यग्रन्थ-स्थल                                   |
|---------|---------------------------------|--------|---------------------------------------------------|
| १       | सम्मत्तुप्पत्ती विय             | (६२७)  | कम्मपयडी उदय. गा. ८ पत्र ८<br>गो. जीवकांड. गा. ६६ |
| २       | खवए य खीणमोहे                   | "      | कम्मपयडी उदय. गा. ९* पत्र ८<br>गो. जीवकांड गा. ६७ |
| ३       | संजोगावरणट्टं                   | (७०१)  |                                                   |
| ४       | पज्जय-अक्खर-पद                  | "      | गो. जीवकांड, गा. ३१७ उत्तरार्ध पाठभेद             |
| ५       | ओगाहणा जहण्णा                   | (७०३)  |                                                   |
| ६       | अंगुलमावलियाए                   | "      | गो. जीवकांड गा. ४०४                               |
| ७       | आवलियपुधत्तं                    | "      | गो. जीवकांड गा. ४०५                               |
| ८       | भरहम्मि अद्धमासं                | "      | गो. जीवकांड गा. ४०६                               |
| ९       | संखेज्जदिमे काले                | (७०४)  | गो. जीवकांड गा. ४०७                               |
| १०      | कालो चदुण्ह बुड्डी              | (७०४)  | गो. जीवकांड गा. ४१२                               |
| ११      | तेया-कम्मसरीरं                  | "      |                                                   |
| १२      | पशुवीस जोयणाणं                  | (७०५)  | गो. जीवकांड गा. ४२६                               |
| १३      | असुराणमसंखेज्जा                 | "      | गो. जीवकांड गा. ४२७                               |
| १४      | सक्कीसाणा पटमं                  | "      | मूलाराधना गा. ११४८<br>गो. जीवकांड गा. ४३०         |
| १५      | आणद-पाणदवासी                    | (७०६)  | गो. जीवकांड गा. ४३१                               |
| १६      | सब्बं च लोगणाळिं                | "      | गो. जीवकांड गा. ४३२                               |
| १७      | परमोहि असंखेज्जाणि              | "      |                                                   |
| १८      | तेयासरीरलंबो                    | (७०७)  |                                                   |
| १९      | उक्कस्सं माणुसेसु य             | "      |                                                   |
| २०      | णिद्धणिद्धा ण बज्झंति           | (७२६)  | गो. जीवकांड गा. ६१२                               |
| २१      | णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिण्ण(७२७) |        | गो. जीवकांड गा. ६१५                               |

\*इस गाथाके द्वितीय चरणमें ' जिणे य दुविहे असंखगुण सेढी ' ऐसा पाठ है । षट्खण्डागमके सूत्रोमे केवली जिनके दोनों भेदोंको लेकरही ११ स्थान बतलाए गये हैं ।

|    |                  |       |                     |
|----|------------------|-------|---------------------|
| २२ | साहारणमाहारो     | (७३८) | गो. जीवकांड गा. १९२ |
| २३ | एयस्स अणुग्गहणं  | "     |                     |
| २४ | समगं वक्कंताणं   | "     |                     |
| २५ | जत्थेउ मरइ जीवो  | "     | गो. जीवकांड गा. १९३ |
| २६ | बादर सुहुमणिगोदा | (७३८) |                     |
| २७ | अत्थि अणंता जीवा | "     | गो. जीवकांड गा. १९७ |
| २८ | एगणिगोदसरीरे     | (७३९) | गो. जीवकांड गा. १९६ |

वेदना अनुयोगद्वारके भीतर ज्ञानावरणादि कर्मोंकी उत्कृष्ट द्रव्यवेदनाका स्वामी गुणित-कर्मांशिक जीवको बतलाया गया है। इस गुणितकर्मांशिक जीवके स्वरूपकी प्ररूपणा षट्खंडागममें उक्त स्थानपर २६ सूत्रोंमें की गई है। इन सब सूत्रोंका आधार कम्मपयडीकी संक्रमणकी निम्न लिखित ५ गाथाएं हैं। इनके साथ पाठक षट्खंडागमके निम्न सूत्रोंका मिलान करें—

### कम्मपयडी — गाथा

१ जो बायरतसकालेणूणं कम्मट्ठिं तु पुढवीए । बायर पज्जत्तापज्जत्तगदीहियरद्दासु  
 ॥ ७४ ॥ जोगकसाउक्कोसो बहुसो निश्चमवि आउबंधं च । जोगजहुण्णेणुवरिल्लिठिइनिसेगं बहुं  
 किच्चा ॥ ७५ ॥ बायरतसेसु तक्कालेमेवमंते य सत्तमखिईए । सब्बलहुं पज्जत्तो जोगकसायाहिओ बहुसो  
 ॥ ७६ ॥ जोगजवमज्जउवरिं मुहुत्तमच्छिस्तु जीवियवसाणे । तिचरम-दुचरिमसमए पूरित्तु कसाय-  
 उक्कस्सं ॥ ७७ ॥ जोगुक्कस्सं चरिम-दुचरिमे समए य चरिमसमयम्मि । संपुत्तगुणियकम्मो पगयं  
 तेणेह सामित्ते ॥ ७८ ॥

### षट्खंडागम — सूत्र

जो जीवो बादरपुढवीजीवेषु वेसागरोवमसहस्सेहि सादिरेगेहि ऊणियं कम्मट्ठिदिमच्छिदो  
 ॥ ७ ॥ तत्थ य संसरमाणस्स बहुवा पज्जत्तभवा थोवा अपज्जत्तभवा ॥ ८ ॥ दीहाओ पज्जत्तद्वाओ  
 रहस्साओ अपज्जत्तद्वाओ ॥ ९ ॥ जदा जदा आउअं बंधादि तदा तदा तप्पाओग्गेण जहुण्णएण  
 जोगेण बंधादि ॥ १० ॥ उवरिल्लीणं द्विदीणं णिसेयस्स उक्कस्सपदे हेट्ठिल्लीणं द्विदीणं णिसेयस्स  
 जहुण्णपदे ॥ ११ ॥ बहुसो बहुसो उक्कस्साणि जोगट्ठाणाणि गच्छदि ॥ १२ ॥ बहुसो बहुसो  
 बहुसंकिसेस परिणदो भवदि ॥ १३ ॥ एयं संसरिदूण बादर तसपज्जत्तएसुववण्णो ॥ १४ ॥ तत्थ  
 य संसरमाणस्स बहुआ पज्जत्तभवा, थोवा अपज्जत्तभवा ॥ १५ ॥ दीहाओ पज्जत्तद्वाओ रहस्साओ  
 अपज्जत्तद्वाओ ॥ १६ ॥ जदा जदा आउअं बंधदि तदा तदा तप्पाओग्गजहुण्णएण जोगेण बंधदि  
 ॥ १७ ॥ उवरिल्लीणं णिसेयस्स उक्कसपदे हेट्ठिल्लीणं द्विदीणं णिसेयस्स जहुण्णपदे ॥ १८ ॥  
 बहुसो बहुसो उक्कस्साणि जोगट्ठाणाणि गच्छदि ॥ १९ ॥ बहुसो बहुसो बहुसंकिसेसपरिणदो

भवदि ॥ २० ॥ एवं संसरिदूण अपच्छिमे भवगहणे अधो सत्तमाए पुढवीए णेरइएसु उववण्णो ॥ २१ ॥ तेणेव पढमसमयआहारएण पढमसमयतवभवत्थेण उक्कस्सेण जोगेण आहारिदो ॥ २२ ॥ उक्कस्सिमाए वड्डीए वड्ढिदो ॥ २३ ॥ अंतोमुहुत्तेण सव्वलहुं सव्वाहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदो ॥ २४ ॥ तत्थ भवट्ठिदी तेत्तीस सागरोवमाणि ॥ २५ ॥ आउअमणुपालेतो बहुसो बहुसो उक्कस्साणि जोग-  
ट्टाणाणि गच्छदि ॥ २६ ॥ बहुसो बहुसो बहुसंकिलेसपरिणामो भवदि ॥ २७ ॥ एवं संसरिदूण थोवावसेसे जीविदव्वए त्ति जोगजत्रमज्झस्सुवरिमंतोमुहुत्तद्धमच्छिदो ॥ २८ ॥ चरिमे जीवगुणहाणि-  
ट्टाणंतरे आवलियाए असंखेज्जदिभागमच्छिदो ॥ २९ ॥ दुचरिम-तिचरिमसमए उक्कस्ससंकिलेसं गदो ॥ ३० ॥ चरिम-दुचरिमसमए उक्कस्सजग्गिं गदो ॥ ३१ ॥ चरिमसमय तवभवत्थस्सणाणावरणीय-  
वेयणा दव्वदो उक्कस्सा ॥ ३२ ॥

( प्रस्तुत ग्रन्थ ५४१-५४५ )

इसी वेदना-अनुयोगद्वारके भीतर ज्ञानावरणादि कर्मोंकी जघन्य द्रव्यवेदनाका स्वामी क्षपितकर्मशिक जीव बतलाया है । इसका स्वरूप षट्खंडागममें २७ सूत्रोंकेद्वारा बतलाया गया है, जब कि वह कम्मपयडीमें केवल ३ गाथाओंमें है । पाठक इन दोनोंकी भी तुलना करें—

### कम्मपयडी-गाथा

१ पल्लासंसियभागेण-कम्मठिइमच्छिओ निगोएसु । सुहुमेसुऽभवियजोगं जहन्नयं कट्ठु  
निगम्म ॥ ९४ ॥ २ जोगेसुऽसंखवारे सम्मत्तं लभिय देसविरइं च । अट्टक्खुत्तो विरइं संजोयणहा  
तइयवारे ॥ ९५ ॥ ३ चउरुवसमित्तु मोहं लहुं खवंतो भवे खवियकम्मो । पाएण तहिं पगयं पडुच्च  
काओ वि सविसेसं ॥ ९६ ॥

### छक्खंडागम-सूत्र

जो जीवो सुहुमणिगोदजीवेषु पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागेण ऊणियं कम्मट्ठिदिमच्छिदो  
॥ ४९ ॥ तत्थ य संसरमाणस्स बहुवा अपज्जत्तभवा, थोवा पज्जत्तभवा ॥ ५० ॥ दीहाओ  
अपज्जत्तद्धाओ, रहस्साओ पज्जत्तद्धाओ ॥ ५१ ॥ जदा जदा आउअं बंधदि तदा तदा तप्पाओग्गु-  
क्कस्स जोगेण बंधदि ॥ ५२ ॥ उवरिल्लीणं ट्ठिदीणं णिसेयस्स जहण्णपदे, हेट्ठिल्लीणं ट्ठिदीणं  
णिस्सेयस्स उक्कस्सपदे ॥ ५३ ॥ बहुसो बहुसो जहण्णाणि जोगट्टाणाणि गच्छदि ॥ ५४ ॥ बहुसो  
बहुसो मंसंकिलेसपरिणामो भवदि ॥ ५५ ॥ एवं संसरिदूण बादरपुढवि जीवपज्जत्तएसु उववण्णो  
॥ ५६ ॥ अंतोमुहुत्तेण सव्वलहुं सव्वाहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदो ॥ ५७ ॥ अंतोमुहुत्तेण कालगद-  
समाणो पुव्वकोडाउएसु मणुसेसुववण्णो ॥ ५८ ॥ सव्वलहुं जोणिणिकखमणजम्मणेण जादो अट्टवस्सिओ  
॥ ५९ ॥ संजमं पडिवण्णो ॥ ६० ॥ तत्थ य भवट्ठिदिं पुव्वकोडिं देसूणं संजम मणुपालइत्ता  
थोवावसेसे जीविदव्वए त्ति मिच्छत्तं गदो ॥ ६१ ॥ सव्वत्थोवाए मिच्छत्तस्स असंजमद्धाए अच्छिदो

॥ ६२ ॥ मिच्छत्तेण कालगदसमाणो दसवाससहस्साउट्टिदिएसु देवेषु उववण्णो ॥ ६३ ॥ अंतो-  
मुहुत्तेण सव्वलहुं सव्वाहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदो ॥ ६४ ॥ अंतोमुहुत्तेण सम्मत्तं पडिवण्णो ॥ ६५ ॥  
तत्थ य भवट्टिदिं दसवास सहस्साणि देसूणाणि सम्मत्तमणुपालइत्ता थोत्रावसेसे जीविदव्वए त्ति मिच्छत्तं  
गदो ॥ ६६ ॥ मिच्छत्तेण कालगदसमाणो बादरपुढविजीवपज्जत्तएसु उववण्णो ॥ ६७ ॥ अंतो-  
मुहुत्तेण सव्वलहुं सव्वाहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदो ॥ ६८ ॥ अंतोमुहुत्तेण कालगदसमाणो सुहुमणि-  
गोदजीवपज्जत्तएसु उववण्णो ॥ ६९ ॥ पल्लिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्तेहि ठिदिखंडयघादेहि  
पल्लिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्तेण कालेण कम्मं हदसमुत्पत्तियं कादूण पुणरवि बादरपुढविजीव-  
पज्जत्तएसु उववण्णो ॥ ७० ॥ एवं णाणाभवग्गहणेहि अट्ट संजमकंडयाणि अणुपालइत्ता चदुक्खुत्तो  
कसाए उवसामइत्ता पल्लिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्ताणि संजमासंजमकंडयाणि सम्मत्तकंडयाणि च  
अणुपालइत्ता एवं संसरिदूण अपच्छिमे भवग्गहणे पुणरवि पुव्वकोडाउएसु मणुसेसु उववण्णो ॥ ७१ ॥  
सव्वलहुं जोणिणिकक्खमणजम्मणेण जादो अट्टवस्सओ ॥ ७२ ॥ संजमं पडिवण्णो ॥ ७३ ॥ तत्थ  
भवट्टिदिं पुव्वकोडिं देसूणं संजममणुपालइत्ता थोत्रावसेसे जीविदव्वए त्ति य खवणाए अब्भुट्टिदो  
॥ ७४ ॥ चरिमसमयछुदुमत्थो जादो । तस्स चरिम समयछुदुमत्थस्स णाणावरणीयवेदणा दव्वदो  
जहण्णा ॥ ७५ ॥

जीवस्थानकी छठी चूलिकामें सभी कर्मप्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति, उत्कृष्ट आबाधा और कर्मनिषेकके प्रमाणकी प्ररूपणा की गई है। इसी प्रकार सातवीं चूलिकामें भी सभी कर्मप्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति आदिकी प्ररूपणा की गई है। कम्मपयडीकी मूलगाथाओंमें उक्त दोनों स्थितियोंका वर्णन स्थितिबन्ध प्ररूपणामें गाथाङ्क ७० ते ७८ तक पाया जाता है। इन गाथाओंकी चूर्णिसे जब हम उक्त दोनों प्ररूपणाओंके सूत्रोंकी तुलना करते हैं, तो उसपर षट्खण्डागमके उक्त स्थलके सूत्रोंका प्रभाव स्पष्ट दिखाई ही नहीं देता, प्रत्युत यह कहा जा सकता है कि उक्त चूर्णि षट्खण्डागमके सूत्रोंको सामने रख कर लिखी गई है। यहां दोनोंकी समातावाला एक उद्धरण देना पर्याप्त होगा—

“ पंचण्हं णाणावरणीयाणं णवण्हं दंसणावरणीयाणं असादावेदणीयं पंचण्हमंतराइयाणा-  
मुक्कस्सओ ट्टिदिबंधो तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ ॥ ४ ॥ तिणिण वाससहस्साणि  
आबाधा ॥ ५ ॥ आबाधूणिया कम्मट्टिदी कम्मणिसेओ ” ॥ ६ ॥

(षट्खण्डा० उक्कस्सट्ठि० चू. पृ. ३०१)

अब उक्त सूत्रोंका मिलान कम्मपयडीकी चूर्णिसे कीजिए—

“ पंचण्हं णाणावरणीयाणं णवण्हं दंसणावरणीयाणं पंचण्हं अंतराइयाणं असातवेयणिज्जस्स  
उक्कस्सिगो उ ठितिबंधो तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ । तिणि वाससहस्साणि अबाधा ।  
अबाहूणिया कम्मट्टिती कम्मणिसेगो ।

( कम्मपयडी चूर्णि, बंधनक. पत्र १६३ )



गो. कर्मकाण्डमें स्थिति बन्धके भीतर सभी मूल और उत्तरप्रकृतियोंकी उत्कृष्ट और अधन्य स्थितिका वर्णन किया गया है । उसके पश्चात् आबाधाका लक्षण बतलाकर और प्रत्येक कर्मका आबाधाकाल निकालनेका नियम बतला करके आबाधारहित कर्म निषेकका निरूपण किया गया है । जो वहांके प्रकरणकी रचना-शैलीको देखते हुए उचित है, फिरभी यह तो स्पष्ट ही है कि कर्मकाण्डकी उक्त सन्दर्भकी रचना षट्खण्डागमसूत्रोंकी आभारी है ।

यहां यह बतला देना आवश्यक समझता हूं कि निषेक-प्ररूपणाका जितनाभी वर्णन षट्खण्डागमसूत्रोंमें यहांपर या अन्यत्र देखनेमें आता है, वह कम्मपयडीकी मूलगाथाओंका आभारी है । निषेक-प्ररूपणासम्बन्धी कम्मपयडी और गो. कर्मकाण्डकी एक गाथाकी तुलना यह अप्रासंगिक न होगी--

मोक्ष्णं सगमवाहं पटमाइ ठिईइ बहुतरं दव्वं । एत्तो विसेसहीणं जावुक्कोसं ति सव्वेसिं ॥  
( कम्मप, स्थिति. पत्र १७८ )

आवाहं बोलाविय पटमणिसेगम्मि देय बहुगं तु । तत्तो विसेसहीणं विदियस्सादिमणिसेओ त्ति  
( गो. कर्मकाण्ड )

दोनों गाथाओंकी समता और विशेषताका रहस्य विद्वज्जन स्वयं हृदयङ्गम करेंगे ।

षट्खण्डागमके वेदनाखण्डान्तर्गत द्रव्यविधानचूलिकामें योगसम्बन्धी अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा २८ सूत्रों में की गई है, जब की उक्त वर्णन कम्मपयडीमें केवल २ गाथाओंकेद्वारा किया गया है । यहांपर पाठकोंके अवलोकनार्थ हम उसे उद्धृत कर रहे हैं—

### कम्मपयडी-गाथा—

सव्वत्थोवो जोगो साहारणसुहुमपटमसमयम्मि । वायर विपत्तियच्चउरमणसन्नपज्जत्तग  
जहण्णो ॥ १४ ॥ आइयुगुक्कोसो सिं पज्जत्तजहनगेथरे य कमा । उक्कोसजहन्नियरो असमत्तियरे  
असंखेज्जगुणो ॥ १५ ॥

### षट्खण्डागम-सूत्र—

सव्वत्थोवो सुहुमेइंदिय-अपज्जत्तयस्स जहण्णओ जोगो ॥ १४५ ॥ वादरेइंदिय-अपज्जत्तयस्स  
जहण्णओ जोगो असंखेज्जगुणो ॥ १४६ ॥ बीइंदियअपज्जत्तयस्स जहण्णओ जोगो असंखेज्जगुणो  
॥ १४७ ॥ तीइंदियअपज्जत्तयस्स जहण्णओ जोगो असंखेज्जगुणो ॥ १४८ ॥ चउरिंदियअपज्जत्तयस्स  
जहण्णओ जोगो असंखेज्जगुणो ॥ १४९ ॥ असण्णिपंचिंदियअपज्जत्तयस्स जहण्णओ जोगो असंखेज्ज-  
गुणो ॥ १५० ॥ सण्णिपंचिंदियअपज्जत्तयस्स जहण्णओ जोगो असंखेज्जगुणो ॥ १५१ ॥ सुहुमेइंदिय-  
अपज्जत्तयस्स उक्कस्सओ जोगो असंखेज्जगुणो ॥ १५२ ॥ वादरेइंदियअपज्जत्तयस्स उक्कस्सओ जोगो

असंखेज्जगुणो ॥ १५३ ॥ सुहुमेइंदियपज्जत्तयस्स जहण्णओ जोगो असंखेज्जगुणो ॥ १५४ ॥  
 बादरेइंदियपज्जत्तयस्स जहण्णओ जोगो असंखेज्जगुणो ॥ १५५ ॥ सुहुमेइंदियपज्जत्तयस्स उक्कस्सओ  
 जोगो असंखेज्जगुणो ॥ १५६ ॥ बादरेइंदियपज्जत्तयस्स उक्कस्सओ जोगो असंखेज्जगुणो ॥ १५७ ॥  
 बीइंदियअपज्जत्तयस्स उक्कस्सओ जोगो असंखेज्जगुणो ॥ १५८ ॥ तीइंदियअपज्जत्तयस्स उक्कस्सओ  
 जोगो असंखेज्जगुणो ॥ १५९ ॥ चट्ठुरिंदिय अपज्जत्तयस्स उक्कस्सओ जोगो असंखेज्जगुणो ॥ १६० ॥  
 असण्णिपंचिंदियअपज्जत्तयस्स उक्कस्सओ जोगो असंखेज्जगुणो ॥ १६१ ॥ सण्णिपंचिंदिय  
 अपज्जत्तयस्स उक्कस्सओ जोगो असंखेज्जगुणो ॥ १६२ ॥ बीइंदियपज्जत्तयस्स जहण्णओ जोगो  
 असंखेज्जगुणो ॥ १६३ ॥ तीइंदियपज्जत्तयस्स जहण्णओ जोगो असंखेज्जगुणो ॥ १६४ ॥  
 चट्ठुरिंदियपज्जत्तयस्स जहण्णओ जोगो असंखेज्जगुणो ॥ १६५ ॥ असण्णिपंचिंदियपज्जत्तयस्स  
 जहण्णओ जोगो असंखेज्जगुणो ॥ १६६ ॥ सण्णिपंचिंदियपज्जत्तयस्स जहण्णओ जोगो असंखेज्जगुणो  
 ॥ १६७ ॥ बीइंदियपज्जत्तयस्स उक्कस्सओ जोगो असंखेज्जगुणो ॥ १६८ ॥ तीइंदियपज्जत्तयस्स  
 उक्कस्सओ जोगो असंखेज्जगुणो ॥ १६९ ॥ चउरिंदियपज्जत्तयस्स उक्कस्सओ जोगो असंखेज्जगुणो  
 ॥ १७० ॥ असण्णि पंचिंदियपज्जत्तयस्स उक्कस्सओ जोगो असंखेज्जगुणो ॥ १७१ ॥ सण्णि-  
 पंचिंदियपज्जत्तयस्स उक्कस्सओ जोगो असंखेज्जगुणो ॥ १७२ ॥

( षट्खंडागम पृ. ५५९-५६१ )

यहां यह ज्ञातव्य है कि इन दोनों गाथाओंकी चूर्णि षट्खण्डागमके उक्त सूत्रोंके साथ शब्दशः साम्य रखती हैं । जिसे पाठक वहींसे मिलान करें ।

षट्खण्डागममें इसी वेदनाकालविधान चूलिकाके अन्तर्गत योगस्थानप्ररूपणा करनेवाले १० अनुयोगद्वार आये हैं, उनके नामादिभी कम्मपयडीमें ज्योंके त्यों पाये जाते हैं । यथा—

### कम्मपयडी-गाथा

चूर्णि— संसारत्थाणं सव्वजीवाणं जहण्णुक्कस्स जोगजाणत्थं भण्णति— अविभाग-वग्ग-  
 फड्ढुग-अंतर-ठाणं अणंतरोवणिहा । जोगे परंपरावुड्ढि-समय-जीवप्पा बहुगंच ॥ ५ ॥

( बंधनकरण पत्र २३ )

### षट्खण्डागम-सूत्र

जोगड्ढाणपरूवणदाए तत्थ इमाणि दस अणियोगद्वाराणि णादव्वाणि भवंति ॥ १७५ ॥  
 अविभागपडिच्छेदपरूवणा वग्गणपरूवणा फद्वयपरूवणा अंतरपरूवणा ठाणपरूवणा अणंतरोवणिधा  
 परंपरोवणिधा समयपरूवणा वड्ढिपरूवणा अप्पाबहुए त्ति ॥ १७६ ॥

( षट्खण्डागम पृ. ५६२ )

उक्त गाथाकी चूर्णमें १० प्ररूपणाओंके नाम ठीक षट्खण्डागमके सूत्रोंके शब्दोंमें ही गिनाये गये हैं ।

षट्खण्डागम पृ. ५८६ पर प्रथम कालविधानचूलिका प्रारम्भ करते हुए जो चार अनु-योगद्वार ज्ञातव्य कहे हैं, वे और उन चारोंकी प्ररूपणाके सूत्र कम्मपयडीकी स्थितिबन्धप्रकरणवाली गा. ६८-६९ के आधार पर रचे गये हैं । वे दोनों गाथाएं इस प्रकार हैं—

१ ठिड्बंवट्टाणाइं सुहुमअपज्जत्तगस्स थोवाइं । वायरसुहुमेयर वितिचउरिंदियअमणसन्नीणं  
॥ ६८ ॥ संखेज्जगुणाणि कमा असमत्तिरे य विंदियाइम्मि । नवरमसंखेज्जगुणाणि  
संकिलेसा य सब्बत्थ ॥ ६९ ॥

( कम्मपयडी बन्धनकरण पत्र १६० )

यहां यह द्रष्टव्य है कि जिस प्रकार षट्खण्डागममें सूत्रांक ३७ से ५० तक पहले स्थितिबन्धस्थानोंका अल्पबहुत्व कहा गया है, और तत्पश्चात् सूत्र ५१ से ६४ तक संक्षेशविशुद्धि स्थानोंका अल्पबहुत्व कहा गया है, उसकी सूचना भी दूसरी गाथाके चतुर्थ चरण ' संकिलेसा य सब्बत्थ ' इस पदसे कर दी गई है । जिसका विस्तार आ. भूतबलिने उक्त सूत्रोंकेद्वारा किया है ।

यहां यह बात भी ध्यान देनेकी है कि षट्खण्डागमके समानही कम्मपयडीचूर्णमें पहले स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानोंका और पीछे संक्षेशविशुद्धिस्थानोंका अल्पबहुत्व ठीक उन्हीं शब्दोंमें दिया गया है । जिससे षट्खण्डागमके सूत्रोंका प्रभाव कम्मपयडीकी चूर्णपर स्पष्ट लक्षित होता है ।

षट्खण्डागमके पृ. ५८८ पर सूत्राङ्क ६५ से १०० तक के सूत्रों द्वारा जो स्थितिबन्ध सम्बन्धी अल्पबहुत्व कहा गया है वह कम्मपयडीकी स्थितिबन्धसम्बन्धी गा. ८१-८२ पर आधारित है । इन गाथाओंकी चूर्णमें जो उक्त अल्पबहुत्व दिया गया है वह गाथाके व्याख्यात्मक पदोंके सिवाय षट्खण्डागमके सूत्रोंके साथ ज्योंका त्यों साम्य रखता है, जिसके लिए चूर्ण उक्त सूत्रोंकी आभारी है । ( देखो कम्मपयडी, स्थिति बं. पत्र १७४-१७५ )

षट्खण्डागमके पृ. ५९१ के सू. १०१ से लगाकर १२२ वें सूत्र (पृ. ५९६) तक जो निषेक प्ररूपणा अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा इन दो अनुयोगद्वारोंसे की गई है, वह कम्मपयडीके बंधनकरणकी गा. ८३-८४ की आभारी है । तथा इन दोनों गाथाओंकी चूर्ण षट्खण्डागमके उक्त सूत्रोंके साथ साम्य रखती है, जो स्पष्टतः उक्त सूत्रोंकी आभारी है । ( देखो कम्मपयडी, स्थिति बं. पत्र १७९-१८० )

षट्खण्डागमके पृ. ५९६ से लेकर जो आत्राधाकांडक प्ररूपणा प्रारम्भ होती है, उसका आधार कम्मपयडीकी बंधनकरणकी गा. ८५ और ८६ हैं । षट्खण्डागमके इस प्रकरणके सूत्र १२१ से लगाकर १६४ तकके समस्त सूत्रोंका प्रभाव उक्त दोनों गाथाओंकी चूर्ण पर स्पष्ट

दृष्टिगोचर होता है। चूर्णिके भीतर एक बात विशेष है कि प्रत्येक अल्पबहुत्वके पश्चात्ही उसका सयुक्तिक कारण भी कहा गया है। पाठकोंकी जानकारीके लिए यहां दो उद्धरण दिये जाते हैं—

### षट्खण्डागम-सूत्र

णाणापदेसगुणहाणिट्ठाणंतराणि असंखेज्जगुणाणि ॥ १२७ ॥ एयपदेसगुणहाणिट्ठाणंतरम-  
संखेज्जगुणं ॥ १२८ ॥

( षट्खण्ड पृ. ५९७ )

### कम्मपयडी-चूर्णि

ततो णाणापदेसगुणहाणिट्ठाणंतराणि असंखेज्जगुणाणि । पलिओवमवग्गमूलस्स असंखेज्जत्ति  
भागो त्ति काउं । एणं पदेसगुणहाणिट्ठाणंतरं असंखेज्जगुणं । असंखेज्जाणि पलिओवमवग्गमूलानि त्ति  
काउं ।

( कम्मप. बंधन. पत्र १८२ )

षट्खण्डागम पृ. ६०० से लेकर पृ. ६११ और सू. १६५ से २७९ तक कालविधान नामक दूसरी चूलिकी स्थितिबन्धाध्यवसानप्ररूपणामें जो जीवसमुदाहार. प्रकृतिसमुदाहार और स्थितिसमुदाहार इन तीन अनुयोगद्वारोंका आश्रय लेकर वर्णन किया गया है, उसका आधार कम्मपयडीकी बन्धनकरणकी गाथा ८७ से लेकर १०१ तक की गाथाएँ हैं। ( देखो कम्मपयडी बन्धनकरण पत्र १८६ से २०० तक )। इन गाथाओंकी चूर्णि षट्खण्डागमके उक्त सूत्रोंकी आभारी है। सूत्रोंमें तो वर्णन संक्षेपसे किया गया है, पर कम्मपयडीकी चूर्णिमें उसके भाष्यरूप विस्तृत वर्णन पाया जाता है, जो कि स्पष्टतः उसकी आधारता, पल्लवता और अर्वाचीनताको सिद्ध करता है।

षट्खण्डागम पृ. ६२७ पर वेदनाभावविधानकी प्रथम चूलिकाके प्रारम्भमें जो 'सम्मत्तुप्पत्तीए आदि २ सूत्र गाथाएँ दी हैं, वे कम्मपयडीके उदय अधिकारमें क्रमांक ८ और ९ पर ज्योंकी ल्यों पाई जाती हैं। साथही वहां पर जो उनकी चूर्णि दी हुई है, वह षट्खण्डागमके सू. १७५ से लेकर १९६ तकके सूत्रोंके साथ शब्दशः समान है। यहां यह द्रष्टव्य है कि गाथा सूत्रोंके आधार पर ही उक्त सूत्र रचे गये हैं। जिससे गाथाओंका पूर्वाचार्य परम्परासे आना सिद्ध है। यह गाथा और चूर्णिकी समता आकस्मिक नहीं है, अपितु ऐतिहासिक शोधमें अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

षट्खण्डागम पृ. ७३३ से ७३५ तक जो एकप्रदेशी वर्णनासे लेकर महास्कन्धवर्णना तक २३ वर्णनाओंकी प्ररूपणा की गई है, उसके आधारभूत २ गाथाएं धवला टीका ( पु. १४ पृ. ११७ ) में पाई जाती हैं, और वे ही गो. जीवकाण्डमें भी गाथांक ५९४ और ५९५ पर

पाई जाती हैं। इन २३ वर्गणाओंकी प्ररूपणा करनेवाली तीन गाथाएं कम्मपयडीमें ( गा. १५—२० । बन्धनकरण पत्र ३९ ) पाई जाती हैं, पर उनकी विशेषता यह है कि उनमें ध्रुव, शून्य, आदि पदोंके स्पष्ट उल्लेखके साथ उनके गुणकार अर्द्धिका भी निर्देश पाया जाता है। इन तीनों गाथाओंकी व्याख्यात्मक चूर्णि कम्मपयडीमें दो प्रकारकी हैं— एक सामान्यसे कथन करनेवाली और दूसरी विशेषसे कथन करनेवाली। सामान्यसे २३ वर्गणाओंका वर्णन करनेवाली चूर्णि षट्खण्डागमके सूत्रोंके साथ शब्दशः समान है। ( देखो कम्मपयडी, बन्धनकरण, पत्र ३९ )

कम्मपयडीकी उपर्युक्त उद्धरणों और साम्य-स्थलोंके प्रकाश में सहजही यह प्रश्न उठता है कि, क्या षट्खण्डागमकारके सामने कम्मपयडी थी, और क्या उसे आधार बना करके उन्होंने अपने ग्रन्थकी रचना की है ?

यहां यह आक्षेप किया जा सकता है कि षट्खण्डागमकी रचना तो विक्रमकी दूसरी— तीसरी शताब्दीके लगभग हुई है, जब कि कम्मपयडी की रचना आ. शिवशर्मने विक्रमकी पांचवीं शताब्दीके आस-पासकी है, तब यह कैसे सम्भव है कि अपनेसे परवर्ती रचनाका उपयोग षट्खण्डागमकारने किया हो ?

इस आक्षेपका समाधान यह है कि शिवशर्मका समय विक्रमकी पांचवीं शताब्दी माना जाता है, यह ठीक है। और यहभी ठीक है कि उन्होंने कम्मपयडीका वर्तमानरूपमें संकलन पीछे किया है। पर इस विषयमें कम्मपयडीकी चूर्णिकारके निम्न उत्थानिका वाक्य अवलोकनीय हैं। वे लिखते हैं—

..... इमंमि जिणसासणे दुस्समाबलेण खीयमाणमेहाउसद्धासंवेगउज्जमारंभं अज्जकालियं साहुजणं अणुग्घेतुकामेण विच्छिन्न कम्मपयडिमहागंतथत्थ संबोहणत्थं आरद्धं आयरिणं तग्गुणणामगं कम्मपयडीसंगहणी णाम पगरणं । ( कम्मपयडी पत्र १ )

अर्थात् दुःषमा कालके प्रभावसे जिनकी बुद्धि, श्रद्धा, संवेग और उद्यम दिन पर दिन क्षीण हो रहा है, ऐसे अद्य ( वर्तमान ) कालिक साधुजनोंके अनुग्रहके लिए विच्छिन्न हुए महा-कम्मपयडिपाहुडके ग्रन्थार्थके सम्बोधनार्थ आचार्यने उसी गुण और नामवाले इस कर्मप्रकृतिसंग्रहणी नामक प्रकरण को रचा।

इस उद्धरणमें तीन महत्त्वपूर्ण बातें उल्लिखित हैं—पहली तो यह कि इसके विषयका सम्बन्ध उस महाकम्मपयडिपाहुडसे है, जो कि षट्खण्डागमका भी उद्गम आधार है। दूसरी बात यह कि प्रकृत कम्मपयडीके रचनेके समय वह महाकम्मपयडिपाहुड विच्छिन्न हो गया था। तीसरी बात यह कि इसका पूरा नाम ' कम्मपयडिसंगहणी ' है। ' कम्मपयडी ' पदके पीछे लगा हुआ ' संगहणी ' पद स्पष्टरूपसे बता रहा है कि उस विच्छिन्न हुए महाकम्मपयडिपाहुडका जो कुछ भी बिखरा हुआ

अंश आचार्य-परम्परासे उन्हें प्राप्त हुआ, वह उन्होंने ज्यों का त्यों इसमें संग्रह कर दिया है। इसीसे उसका 'कम्मपयडीसंगहणी' यह नाम सार्थक है।

षट्खण्डागममें उपलब्ध अनेक सूत्र गाथाओंसे इतना तो सिद्ध ही है कि वह महा-कम्मपयडिपाहुड गाथाओंमें निबद्ध रहा है। उसकी वे गाथाएँ धरसेनाचार्यको प्राप्त थीं और कण्ठस्थ भी थीं। उन्हींको आधार बनाकर उन्होंने उनका व्याख्यान पुष्पदन्त और भूतबलिको किया। उन्हींके आधार पर उन्होंने अपनी षट्खण्डागम की रचना की। प्रकरण वश कहीं-कहीं उन्होंने गुरुमुखसे सुनी और पढ़ी हुई गाथाओंको लिख दिया है। उसी महाकम्मपयडिपाहुडकी अनेक गाथाएँ—जिनके आधारपर उन्होंने षट्खण्डागमकी रचना की है—आचार्य-परम्परासे आती हुई आ. शिवशर्मको प्राप्त हुई और उन्होंने अपनी रचनामें उन्हें संकलित कर दिया— तो इतने मात्रसे ही क्या वे उनकी रची कहलाने लगेंगी। गो. जीवकांड और कर्मकाण्ड में ऐसी सैकड़ों गाथाएँ हैं, जो उसके रचयितासे बहुत पहलेसे चली आ रही हैं, मात्र उनके गोम्मतसारमें संग्रह होनेसे तो वे उसके रचयिता-द्वारा रचित नहीं मानी जा सकती।

उक्त सर्व कथनका अभिप्राय यह है कि भले ही कम्मपयडीकी रचना षट्खण्डागमसे पीछेकी रही आये, परन्तु उसमें ऐसी अनेक गाथाएँ हैं, जो बहुत प्राचीन कालसे चली आ रही थीं। उनका ज्ञान षट्खण्डागमकारको था और उनके आधारपर अमुक-अमुक स्थलके सूत्रोंका उन्होंने निर्माण किया, इसके माननेमें कोई आपत्ति या आक्षेपकी बात नहीं है।

### जीवस्थानका आधार

षट्खण्डागमके छह खण्डोंमें पहला खण्ड जीवस्थान है। इसका उद्गम धवलाकारने महाकम्मपयडिपाहुडके छठे बन्धन नामक अनुयोगद्वारके चौथे भेद बन्धविधानके अन्तर्गत विभिन्न भेद-प्रभेदरूप अवान्तर-अधिकारोंसे बतलाया है, यह बात हम प्रस्तावनाके प्रारम्भमें दिये गये चित्रादिकोंके द्वारा स्पष्ट कर चुके हैं। जीवस्थानका मुख्य विषय सत्, संख्यादि आठ प्ररूपणाओंके द्वारा जीवकी विविध अवस्थाओंका वर्णन करना है। इसमें तो सन्देह ही नहीं, कि जीवस्थानका मूल उद्गमस्थान महाकम्मपयडिपाहुड था। और यतः कर्म-बन्ध करनेके नाते उसके बन्धक जीवका जबतक स्वरूप, संख्यादि न जान लिए जायें, तब तक कर्मोंके भेद-प्रभेदोंका और उनके स्वरूप आदिका वर्णन करना कोई महत्त्व नहीं रखता, अतः भगवत् पुष्पदन्तने सबसे पहले जीवोंके स्वरूप आदिका सत्, संख्यादि अनुयोगद्वारोंसे वर्णन करना ही उचित समझा। इस प्रकार जीवस्थाननामक प्रथम खण्डकी रचनाका श्रीगणेश हुआ।

पर जैसा कि मैंने वेदना और वर्गणाखण्ड में आई हुई सूत्रगाथाओंके आधारपर षट्खण्डागमसे पूर्व-रचित विभिन्न ग्रन्थोंमें पाई जानेवाली गाथाओंके तुलनात्मक अवतरण देकर यह

बताया है कि महाकम्मपयडिपाहुडका विषय बहुत विस्तृत था, और वह संक्षेपरूपसे कण्ठस्थ रखनेके लिए गाथारूपमें ग्रथित या गुम्फित होकर आचार्य-परम्परासे प्रवहमान होता हुआ चला आ रहा था, उसका जितना अंश आ. शिवशर्मको प्राप्त हुआ, उसे उन्होंने अपनी 'कम्मपयडी-संगहणी'में संग्रहित कर दिया। इसी प्रकार उनके पूर्ववर्ती जिस आचार्यको जो विषय अपनी गुरुपरम्परासे मिला, उसे उन-उन आचार्योंने उसे गाथाओंमें गुम्फित कर दिया, ताकि उन्हें जिज्ञासु जन कण्ठस्थ रख सकें। समस्त उपलब्ध जैनवाङ्मयका अवलोकन करने पर हमारी दृष्टि एक ऐसे ग्रन्थ पर गई, जो षट्खण्डागमके प्रथमखण्ड जीवस्थानके साथ रचना-शैलीसे पूरी पूरी समता रखता है और अद्यावधि जिसके कर्ताका नाम अज्ञात है, किन्तु पूर्वभृत्-सूरि-सूत्रितके रूपमें विख्यात है। उसका नाम है जीवसमास। \*

इसमें कुल २८६ गाथाएँ हैं और सप्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम आदि उन्हीं आठ अनुयोगद्वारोंसे जीवका वर्णन ठीक उसी प्रकारसे किया गया है, जैसा कि षट्खण्डागमके जीवस्थान नामक प्रथम खण्डमें। भेद है, तो केवल इतना ही, कि आदेशसे कथन करते हुए जीवसमासमें एक-दो मार्गणाओंका वर्णन करके यह कह दिया गया है कि इसी प्रकारसे धीर वीर और श्रुतज्ञ जनोंको शेष मार्गणाओंका विषय अनुमार्गण कर लेना चाहिए। तब षट्खण्डागमके जीवस्थानमें उन सभी मार्गणा स्थानोंका वर्णन खूब विस्तारके साथ प्रत्येक प्ररूपणामें पाया जाता है। यही कारण है कि यहां जो वर्णन केवल २८६ गाथाओंके द्वारा किया गया है, वहां वही वर्णन जीवस्थानमें १८६० सूत्रोंके द्वारा किया गया है।

जीवसमासमें आठों प्ररूपणाओंका ओष और आदेशसे वर्णन करनेके पूर्व उस उस प्ररूपणाकी आधारभूत अनेक बातोंकी बड़ी विशद चर्चा की गई है, जो कि जीवस्थानमें नहीं है। हां, ध्वला टीकामें यह अवश्य दृष्टिगोचर होती है। ऐसी विशिष्ट विषयोंकी चर्चावाली सब मिलाकर लगभग १११ गाथाएँ हैं। उनको २८६ में से घटा देने पर केवल १७५ गाथाएँ ही ऐसी रह जाती हैं, जिनमें आठों प्ररूपणाओंका सूत्ररूपमें होते हुए भी विशद एवं स्पष्ट वर्णन पाया जाता है। इसका निष्कर्ष यह निकला कि १७५ गाथाओंका स्पष्टीकरण षट्खण्डागमकारने १८६० सूत्रोंमें किया है।

यहां यह शंका की जा सकती है कि संभव है षट्खण्डागमके उक्त जीवस्थानके विशद एवं विस्तृत वर्णनका जीवसमासकारने संक्षेपीकरण किया हो। जैसा कि ध्वला-जयध्वला टीकाओंका संक्षेपीकरण गोम्मटसारके रचयिता नेमिचन्द्राचार्यने किया है। पर इस शंकाका समाधान यह है कि पहले तो गोम्मटसारके रचयिताने उसमें अपना नाम स्पष्ट शब्दोंमें प्रकट किया है।

\* यह अपने मूलरूपमें विविध ग्रन्थोंके संकलनके साथ प्रकाशित हो चुका है।

जिससे कि वह परवर्ती रचना सिद्ध हो जाती है। पर यहां तो जीवसमासकारने न तो अपना नाम कहीं दिया है और न परवर्ती आचार्योंने ही उसे किसी आचार्य-विशेष की कृति बताकर नामोल्लेख किया है। प्रत्युत उसे ' पूर्वभृत्-सूरि-सूत्रित ' ही कहा है जिसका अर्थ यह होता है कि जब यहांपर पूर्वोका ज्ञान प्रवहमान था, तब किसी पूर्ववेत्ता आचार्यने दिनपर दिन क्षीण होती हुई लोगोंकी बुद्धि और धारणाशक्तिको देखकरही प्रवचन-वात्सल्यसे प्रेरित होकर इसे गाथारूपमें निबद्ध कर दिया है और वह आचार्य परम्परासे प्रवहमान होता हुआ धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ है। उसमें जो कथन स्पष्ट था, उसकी व्याख्यामें अधिक बल न देकर जो अप्ररूपित मार्गणाओंका गूढ अर्थ था, उसका उन्होंने सूत्रबलि और पुष्पदन्तको विस्तारसे विवेचन किया और उन्होंने भी उसी गूढ रहस्यको अपनी रचनामें स्पष्ट करके कहना या लिखना उचित समझा।

दूसरे इस जीवसमासकी जो गाथाएँ आठ प्ररूपणाओंकी भूमिकारूप हैं, वे धवलछाटीकाके अतिरिक्त उत्तराध्ययन, मूलाचार, आचारांग-निर्युक्ति, प्रज्ञापनासूत्र, प्राकृत पंचसंग्रह आदि अनेक ग्रन्थोंमें पाई जाती हैं। जीवसमासकी अपने नामके अनुरूप विषयकी सुगठित विगतवार सुसम्बद्ध रचनाको देखते हुए यह कल्पना असंगतसी प्रतीत होती है कि उसके रचयिताने उन उन उपर्युक्त ग्रन्थोंसे उन-उन गाथाओंको छांट-छांटकर अपने ग्रन्थमें निबद्ध कर दिया हो। इसके स्थानपर तो यह कहना अधिक संगत होगा कि जीवसमासके प्रणेता वस्तुतः श्रुतज्ञानके अंगभूत ११ अंगों और १४ पूर्वोके वेत्ता थे। भले ही वे श्रुतकेवली न हों, पर उन्हें अंग और पूर्वोके बहुभागका विशिष्ट ज्ञान था, और यही कारण है कि वे अपनी कृतिको इतनी स्पष्ट एवं विशद बना सके। यह कृति आचार्य-परम्परासे आती हुई धरसेनाचार्यको प्राप्त हुई, ऐसा माननेमें हमें कोई बाधक कारण नहीं दिखाई देता। प्रत्युत प्राकृत पंचसंग्रहकी प्रस्तावनामें जैसा कि मैंने बतलाया, यही अधिक सम्भव जँचता है कि प्राकृत पंचसंग्रहकारके समान जीवसमास धरसेनाचार्यको भी कण्ठस्थ था और उसका भी व्याख्यान उन्होंने अपने दोनों शिष्योंको किया है।

यहां पर जीवसमासका कुछ प्रारम्भिक परिचय देना अप्रासंगिक न होगा। पहली गाथामें चौबीस जिनत्रों ( तीर्थकरों ) को नमस्कार कर जीवसमास कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है। दूसरी गाथामें निक्षेप, निरुक्ति, ( निर्देश-स्वामित्वादि ) छह अनुयोगद्वारोंसे, तथा ( सत्-संख्यादि ) आठ अनुयोगद्वारोंसे गति आदि मार्गणाओंके द्वारा जीवसमास अनुगन्तव्य कहे हैं। तीसरी गाथाके द्वारा नामादि चार वा बहुल प्रकारके निक्षेपोंकी प्ररूपणाका विधान है। चौथी गाथामें उक्त छह अनुयोगद्वारोंसे सर्व भाव ( पदार्थ ) अनुगन्तव्य कहे हैं। पांचवीं गाथामें सत्-संख्यादि आठ अनुयोगद्वारोंका निर्देश है। जो कि इस प्रकार है—

संतपथपरूवणया दव्वपमाणं च खित्त-फुसणा य ।

कालंतरं च भावो अष्पाबहुअं च दाराइं ॥ ५ ॥



पाठक गण इस गाथाके साथ षट्खण्डागमके प्रथम खण्डके 'संतपरूषणा' आदि सातवें सूत्रसे मिलान करें। तत्पश्चात् छठी 'गइ इंदिए य काए' इत्यादि सर्वत्र प्रसिद्ध गाथाकेद्वारा चौदह मार्गणाओंके नाम गिनाये गये हैं, जो कि ज्योंके ल्यों षट्खण्डागमके सूत्रांक ४ में बताये गये हैं। पुनः सातवीं गाथामें 'एत्तो उ चउदसण्हं इहाणुगमणं करिस्सामि' कहकर और चौदह गुणस्थानोंके नाम दो गाथाओंमें गिनाकर उनके क्रमसे जाननेकी प्रेरणा की गई है। जीवसमासकी ५ वीं गाथासे लेकर ९ वीं गाथा तकका वर्णन जीवस्थानके २ रे सूत्रसे लेकर २२ वें सूत्र तकके साथ शब्द और अर्थकी दृष्टिसे बिलकुल समान है। अनावश्यक विस्तारके भयसे दोनोंके उद्धरण नहीं दिये जा रहे हैं।

इसके पश्चात् ७६ गाथाओंके द्वारा सत्परूषणाका वर्णन ठीक उसी प्रकारसे किया गया है, जैसा कि जीवस्थानकी सत्परूषणामें है। पर जीवसमासमें उसके नामके अनुसार प्रत्येक मार्गणासे सम्बन्धित सभी आवश्यक वर्णन उपलब्ध है। यथा- गतिमार्गणामें प्रत्येक गतिके अवान्तर भेद-प्रभेदोंके नाम दिये गये हैं। यहां तक कि नरकगतिके वर्णनमें सातों नरकों और उनकी नामगोत्रवाली सातों पृथिवियोंके, मनुष्यगतिके वर्णनमें कर्मभूमिज, भोगभूमिज, अन्तर्द्वीपज और आर्य-स्लेच्छादि भेदोंके, तथा देवगतिके वर्णनमें चारों जातिके देवोंके तथा स्वर्गादिकोंके भी नाम गिनाये गये हैं। इन्द्रिय मार्गणामें गुणस्थानोंके निर्देशके साथ छहों पर्याप्तियों और उनके स्वामियोंका भी वर्णन किया गया है। जब कि यह वर्णन जीवद्वारा में योगमार्गणाके अन्तर्गत किया गया है।

कायमार्गणामें गुणस्थानोंके निर्देशके अतिरिक्त पृथिविकायिक आदि पांचों स्थावर कायिकोंके नामोंका विस्तारसे वर्णन है। इस प्रकारकी 'पुढवी य सक्कश वालुया' आदि १४ गाथाएँ वे ही हैं, जो धवल पुस्तक १ के पृ. २७२ आदिमें, तथा मूलाचारमें २०६ वीं गाथासे आगे, तथा उत्तराध्ययन, आचारांग निर्युक्ति, प्राकृत पंचसंग्रह और कुल्ल गो. जीवकांडमें ज्योंकि ल्यों पाई जाती हैं। इसी मार्गणाके अन्तर्गत सच्चित्त-अचित्तादि योनियों और कुल्लकोडियोंका वर्णन कर पृथिवीकायिक आदि जीवोंके आकार और त्रसकायिक जीवोंके संहनन और संस्थानोंका भी वर्णन कर दिया गया है, जो प्रकरणको देखते हुए जानकारीकी दृष्टिसे बहुत उपयोगी है।

योगमार्गणासे लेकर आहारमार्गणातकका वर्णन षट्खण्डागमके जीवस्थानके समान ही है। जीवसमासमें इतना विशेष है कि ज्ञानमार्गणामें आभिनिबोधिक ज्ञानके अवग्रहादि भेदोंका, संयम-मार्गणामें पुलाक, बकुशादिका, लेश्या मार्गणामें द्रव्यलेश्याका और सम्यक्त्वमार्गणामें क्षायोपशमिक सम्यक्त्व आदिके प्रकरणवश कर्मोंके देशघाती, सर्वघाती आदि भेदोंका भी वर्णन किया गया है। अन्तमें साकार और अनाकार उपयोगके भेदोंको बतलाकर और 'सव्वे तल्लवखणा जीवा' कह कर जीवके स्वरूपको भी कह दिया गया है।

यहांपर पाठकोंकी जानकारिके लिए दोनोंके समता परक एक अवतरणको दे रहे हैं—

### जीवसमास—

अस्सण्णि अमणपंचिदियंत सण्णी उ समण छउमत्था ।

नो सण्णि नो असण्णी केवलनाणी उ विण्णेआ ॥ ८१ ॥

### जीवस्थान—

सण्णियाणुवादेण अत्थि सण्णी असण्णी ॥ १७२ ॥ सण्णी मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव खीण कसायवीयरायछदुमत्था त्ति ॥ १७३ ॥ असण्णी इइदियप्पहुडि जाव असण्णिपंचिदिया त्ति ॥ १७४ ॥

पाठकगण इन दोनों उद्धरणोंकी समता और जीवसमासकी कथन-शैलीकी सूक्ष्मताके साथ 'नो संज्ञी और नो असंज्ञी' ऐसे केवलियोंके निर्देशकी विशेषताका स्वयं अनुभव करेंगे।

दूसरी संख्याप्ररूपण या द्रव्यप्रमाणानुगमका वर्णन करते हुए जीवसमासमें पहले प्रमाणके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप चार भेद बतलाये गये हैं। तत्पश्चात् द्रव्यप्रमाणमें मान, उन्मानादि भेदोंका, क्षेत्रप्रमाणमें अंगुल (हस्ते) धनुष, आदिका, कालप्रमाणमें समय, आवली, उच्छ्वास आदिका और भावप्रमाणमें प्रत्यक्ष—परोक्ष ज्ञानोंका वर्णन किया गया है। इनमें क्षेत्र और कालप्रमाणका वर्णन खूब विस्तारके साथ क्रमशः १४ और ३५ गाथाओंमें किया गया है। जिसे कि ध्वलाकारने यथास्थान लिखा ही है। इन चारों प्रकारके प्रमाणोंका वर्णन करनेवाली गाथाएँ दिग्म्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें ज्योंकी त्यों या साधारणसे शब्दभेदके साथ मिलती हैं, जिनसे कि उनका आचार्य-परम्परासे चला आना ही सिद्ध होता है। इन चारों प्रकारके प्रमाणोंका वर्णन षट्खण्डागमकारके सामने सर्वसाधारणमें प्रचलित रहा है, अतः उन्होंने उसे अपनी रचनामें स्थान देना उचित नहीं समझा है।

इसके पश्चात् मिथ्यादृष्टि आदि जीवोंकी संख्या बतलाई गई है, जो दोनोंही ग्रन्थोंमें शब्दशः समान है। पाठकोंकी जानकारिके लिए यहां एक उद्धरण दिया जाता है—

### जीवसमास-गाथा—

मिच्छा दब्बमणंता कालेणोसण्णिणी अणंताओ । खेत्तेण भिज्जमाणा हवंति लोगा अणंता ओ ॥ १४४ ॥

### षट्खण्डागम-सूत्र—

ओषेण मिच्छाइट्ठी दब्बपमाणेण केवडिया ? अणंता ॥ २ ॥ अणंताणंताहि ओसण्णिणि-उस्सण्णिणीहि ण अबहिरंति कालेण ॥ ३ ॥ खेत्तेण अणंताणंता लोगा ॥ ४ ॥

( षट्खण्डागम, पृ. ५४-५५ )

पाठकगण दोनोंके विषय-प्रतिपादनकी शाब्दिक और आर्थिक समताका स्वयं ही अनुभव करेंगे ।

इस प्रकारसे जीवसमासमें चौदह गुणस्थानोंकी संख्याको, तथा गति आदि तीन मार्गणाओंकी संख्याको बतलाकर तथा सान्तरमार्गणाओं आदिका निर्देश करके कह दिया गया है कि—

एवं जे जे भावा जहिं जहिं हुंति पंचसु गईसु ।

ते ते अणुमगित्ता द्रव्यप्रमाणं नए धीरा ॥ १६६ ॥

अर्थात् मैंने इन कुछ मार्गणाओंमें द्रव्यप्रमाणका वर्णन किया है, तदनुसार पांचों ही गतियोंमें सम्भव शेष मार्गणास्थानोंका द्रव्यप्रमाण धीर वीर पुरुष स्वयं ही अनुमार्गण करके ज्ञात करें । ऐसा प्रतीत होता है कि इस संकेतको लक्ष्यमें रखकर ही षट्खण्डागमकारने शेष ११ मार्गणाओंके द्रव्यप्रमाणका वर्णन पुरे ९० सूत्रोंमें किया है ।

क्षेत्रप्ररूपणा करते हुए जीवसमासमें सबसे पहले चारों गतियोंके जीवोंके शरीरकी अवगाहना बहुत विस्तारसे बताई गई है जो प्रकरणको देखते हुए वहां बहुत आवश्यक है । अन्तमें तीन गाथाओंकेद्वारा सभी गुणस्थानों और मार्गणास्थानोंके जीवोंकी क्षेत्रप्ररूपणा कर दी गई है । गुणस्थानोंमें क्षेत्रप्ररूपणा करनेवाली गाथाके साथ षट्खण्डागमके सूत्रोंकी समानता देखिये—

### जीवसमास-गाथा—

मिच्छा उ सव्वलोए असंखेभागे य सेसया हुंति । केवलि असंखभागे भागेषु व सव्वलोए वा ॥ १७८ ॥

### षट्खण्डागम-सूत्र—

ओघेण मिच्छाहट्ठी केवडि खेत्ते ? सव्वलोगे ॥ २ ॥ सासणसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अजोगिकेवलिच्छि केवडि खेत्ते ? लोगस्स असंखेज्जदिभाए ॥ ३ ॥ सजोगिकेवली केवडि खेत्ते ? लोगरस्स असंखेज्जदिभाए, असंखेज्जेसु वा भागेषु, सव्वलोगे वा ॥ ४ ॥ ( षट्खं. पृ. ८६-८८ )

स्पर्शनप्ररूपणा करते हुए जीवसमासमें पहले स्वस्थान, समुद्घात और उपपादपदका निर्देश कर क्षेत्र और स्पर्शनका भेद बतलाया गया है । तत्पश्चात् किस द्रव्यका कितने क्षेत्रमें अवगाह है, यह बतलाकर अनन्त आकाशके मध्यलोकका आकार सुप्रतिष्ठितसंस्थान बताते हुए तीनों लोकोंके पृथक् आकार बताकर उसकी लम्बाई चौड़ाई बताई है । पुनः मध्यलोकके द्वीप-समुद्रोंके संस्थान-संनिवेश आदिको बताकर ऊर्ध्व और अधो लोककी क्षेत्रसम्बन्धी घटा-बढ़ाका वर्णन किया गया है । पुनः समुद्घातके सातों भेद बताकर किस गतिमें कितने समुद्घात होते हैं, यह बताया गया है । इस प्रकार सभी आवश्यक जानकारी देनेके पश्चात् गुणस्थानों और

मार्गणास्थानोंके स्पर्शनकी प्ररूपणा की गई है। गुणस्थानोंकी स्पर्शनप्ररूपणा जीवसमासमें डेढ़ माथामें कही गई है, जब कि षट्खण्डागममें वह ९ सूत्रोंमें वर्णित है। दोनोंका मिलान कीजिए—

### जीवसमास-गाथा—

मिच्छेहिं सव्वलोओ सासण-मिस्सेहिं अजय-देसेहिं । पुट्टा चउदसभागा बारस अट्टु छच्चेव ॥ १९.५ ॥ सेसेह ५ संखभागे फुसिओ लोगो सजोगिकेवलिहिं ।

### षट्खण्डागम-सूत्र—

ओघेण मिच्छादिट्ठीहिं केवडियं खेत्तं फोसिदं ? सव्वलोगो ॥ २ ॥ सासणसम्मादिट्ठीहिं केवडियं खेत्तं फोसिदं ? लोगस्स असंखेज्जदिभागो ॥ ३ ॥ अट्टु बारह चोइस भागा वा देसूणा ॥ ४ ॥ सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्मादिट्ठीहिं केवडियं खेत्तं फोसिदं ? लोगस्स असंखेज्जदिभागो ॥ ५ ॥ अट्टु चोइस भागा वा देसूणा ॥ ६ ॥ संजदासंजदेहिं केवडियं खेत्तं फोसिदं ? लोगस्स असंखेज्जदिभागो ॥ ७ ॥ छ चौइस भागा वा देसूणा ॥ ८ ॥ पमत्तसंजदप्पहुडि जीव अजोगिकेवलीहिं केवडियं खेत्तं फोसिदं ? लोगस्स असंखेज्जदिभागो । सजोगिकेवलीहिं केवडियं खेत्तं फोसिदं ? लोगस्स असंखेज्जदिभागो असंखेज्जा वा भागा सव्वलोगो वा ॥ १० ॥ ( षट्खं. पृ. १०१-१०४ )

कालप्ररूपणा करते हुए जीवसमासमें सबसे पहले चारों गतिके जीवोंकी विस्तारके साथ भवस्थिति और कायस्थिति बताई गई है, क्योंकि उसके जाने बिना गुणस्थानों और मार्गणास्थानोंकी काल-प्ररूपणा ठीक ठीक नहीं जानी जा सकती है। तदनन्तर एक और नाना जीवोंकी अपेक्षा गुणस्थानों और मार्गणास्थानोंकी कालप्ररूपणा की गई है। गुणस्थानोंकी प्ररूपणा जीवसमासमें ७॥ गाथाओंमें की गई है तब षट्खण्डागममें वह ३१ सूत्रोंमें की गई है। विस्तारके भयसे यहां दोनोंके उद्धरण नहीं दिये जा रहे हैं। जीवसमासमें कालभेदवाली कुछ मुख्य मुख्य मार्गणाओंकी कालप्ररूपणा करके अन्तमें कहा गया है—

एथ य जीवसमासे अणुमगिय सुहुम-निउणमइकुसले ।

सुहुमं कालविभागं विमएज्ज सुयम्मि उवजुत्तो ॥ २४० ॥

अर्थात् सूक्ष्म एवं निपुण बुद्धिवाले कुशल जनोंको चाहिए कि वे जीवसमासके इस स्थलपर श्रुतज्ञानमें उपयुक्त होकर अनुक्त मार्गणाओंके सूक्ष्म काल-विभागका अनुमार्गण करके शिष्य जनोंको उसका भेद प्रतिपादन करें।

अन्तर प्ररूपणा करते हुए जीवसमासमें सबसे पहले अन्तरका स्वरूप बतलाया गया है पुनः चारों गतिवाले जीव मरण कर कहां कहां उत्पन्न होते हैं, यह बताया गया है। पुनः जिनमें अन्तर सम्भव है, ऐसे गुणस्थानों और मार्गणास्थानोंका अन्तरकाल बताया गया है। पश्चात्

तीन गाथाओंके द्वारा गुणस्थानोंकी अन्तरप्ररूपणा की गई है, जब की वह षट्खण्डागममें १९ सूत्रोंके द्वारा वर्णित है। तदनन्तर कुछ प्रमुख मार्गणाओंकी अन्तर प्ररूपणा करके कहा गया है कि—

भव-भावपरिस्तीर्णं काल विभागं क्रमेणऽणुगमित्ता ।

भावेण समुवउत्तो एवं कुज्जऽतराणुगमं ॥ २६३ ॥

अर्थात् अनुक्त शेष मार्गणाओंके भव और भाव-परिवर्तन-सम्बन्धी काल-विभागको क्रमसे अनुमार्गण करके भावसे समुपयुक्त ( अतिसावधान ) होकर इसी प्रकारसे शेष मार्गणाओंके अन्तरानुगमको करना चाहिए ।

भावप्ररूपणा जीवसमासमें केवल छह गाथाओंके द्वारा की गई है, जब कि षट्खण्डागमके जीवस्थानमें वह ९२ सूत्रोंमें वर्णित है। जीवसमासकी संक्षेपताको लिए हुए विशेषता यह है कि इसमें एक एक गाथाके द्वारा मार्गणास्थानोंमें औदयिक आदि भावोंका निर्देश कर दिया गया है। यथा—

गइ काय वेय लेस्सा कसाय अन्नाण अजय असण्णी ।

मिच्छाहारे उदया, जियभव्वियर त्तिय सहावो ॥ २६९ ॥

अर्थात् गति, काय, वेद, लेश्या, अज्ञान, असंयम, असंज्ञी, मिथ्यात्व और आहारमार्गणाएँ औदयिकभावरूप हैं। जीवत्व, भव्यत्व और इतर ( अभव्यत्व ) ये तीनों स्वभावरूप अर्थात् पारिणामिक भावरूप हैं।

जीवसमासमें अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा एक खास ढंगसे की गई है, जिससे षट्खण्डागमके प्रथम खण्ड जीवद्वाराण और द्वितीय खण्ड खुदाबंध इन दोनों खंडोंकी अल्पबहुत्वप्ररूपणाके आधारका सामंजस्य बैठ जाता है। अल्पबहुत्वकी प्ररूपणामें जीवसमासके भीतर सर्वप्रथम जो दो गाथाएँ दी गई हैं, उनका मिलान खुदाबंधके अल्पबहुत्वसे कीजिए—

### जीवसमास-गाथा—

थोवा नरा नरेहि य असंखगुणिया हवंति णेरइया । तत्तो सुरा सुरेहि य सिद्धाऽणंता तओ तिरिया ॥ २७१ ॥

थोवाउ मणुस्सीओ नर-नरय-तिरिक्खिओ असंखगुणा । सुर-देवी संखगुणा सिद्धा तिरिया अणंतगुणा ॥ २७२ ॥

### खुदाबंध-सूत्र—

अप्पाबहुगाणुगमेण गदियाणुवादेण पंच गदीओ समासेण ॥ १ ॥ सव्वथोवा मणुसा ॥ २ ॥ णेरइया असंखेज्जगुणा ॥ ३ ॥ देवा असंखेज्जगुणा ॥ ४ ॥ सिद्धा अणंतगुणा ॥ ५ ॥

( खुदाबंध-अल्पब. पृ. ४५१ )

अट्टगदीओ समासेण ॥ ७ ॥ सव्वत्थोवा मणुस्सिणीओ ॥ ८ ॥ मणुस्सा असंखेज्जगुणा ॥ ९ ॥ णेरइया असंखेज्जगुणा ॥ १० ॥ पंचिदियतिरिक्खजोगिणीओ असंखेज्जगुणाओ ॥ ११ ॥ देवा संखेज्जगुणा ॥ १२ ॥ देवीओ संखेज्जगुणाओ ॥ १३ ॥ सिद्धा अणंतगुणा ॥ १४ ॥ तिरिक्खा अणंतगुणा ॥ १५ ॥  
( खुदावं. अल्पव. पृ. ४५१ )

दोनों ग्रन्थोंके दोनों उद्धरणोंसे बिलकुल स्पष्ट है कि खुदाबन्धके अल्पबहुत्वका वर्णन उक्त दोनों गाथाओंके आधारपर किया गया है। इसी प्रकार खुदाबन्धके अल्पबहुत्व-सम्बन्धी सू. १६ से २१ तकका आधार जीवसमासकी २७५ वीं गाथा है, सू. ३८ से ४४ तकका आधार २७६ वीं गाथा है।

खुदाबन्धमें मार्गणाओंके अल्पबहुत्वकी प्ररूपणाके पश्चात् जो अल्पबहुत्वमहादण्डक है, उसमें सू. २ से लेकर ४३ वें सूत्र तककी अल्पबहुत्व-प्ररूपणाका आधार जीवसमासकी गा. २७३ और २७४ है।

जीवस्थानके भीतर गुणस्थानोंके अल्पबहुत्वका जो वर्णन सू. २ से लेकर २६ वें सूत्र तक किया गया है, उसका आधार जीवसमासकी २७७ और २७८ वीं गाथा है। पुनः मार्गणास्थानोंमें गतिमार्गणाका अल्पबहुत्व गुणस्थानोंको साथ कहा गया है। इन्द्रिय और कायमार्गणाके अल्पबहुत्वकी वेही गाथाएँ आधार हैं, जिनकी चर्चा अभी खुदाबन्धके सूत्रोंके साथ समता बताते हुए कर आए हैं। अन्तमें शेष अनुक्त मार्गणाओंके अल्पबहुत्व जाननेके लिए २८१ वीं गाथामें कहा गया है कि—

‘ एवं अप्पाबहुयं दव्वपमाणेहि साहेज्जा ’ ।

अर्थात् इसी प्रकारसे नहीं कही हुई शेष सभी मार्गणाओंके अल्पबहुत्वको द्रव्यप्रमाणानुगम ( संख्याप्ररूपणा ) के आधारसे सिद्ध कर लेना चाहिए।

जीवसमासका उपसंहार करते हुए सभी द्रव्योंका द्रव्यकी अपेक्षा अल्पबहुत्व और प्रदेशोंकी अपेक्षा अल्पबहुत्व बतलाकर अन्तमें दो गाथाएँ देकर उसे पूरा किया है, जिससे जीवसमास नामक प्रकरणकी महत्ताका बोध होता है। वे दोनों गाथाएँ इस प्रकार हैं—

१] बहुभंगदिट्ठिवाए दिट्ठित्थाणं जिनवरोवइट्ठाणं ।

धारणपत्तट्ठो पुण जीवसमासत्थ उवजुत्तो ॥ २८५ ॥

२] एवं जीवाजीवे वित्थरमिहिए समासनिदिट्ठे ।

उवजुत्तो जो गुणए तस्स मई जायए विउला ॥ २८६ ॥

अर्थात् जिनवरोंके द्वारा उपदिष्ट और बहुभेदवाले दृष्टिवादमें दृष्ट अर्थोंकी धारणाको वह पुरुष प्राप्त होता है, जो कि इस जीवसमासमें कहे गये अर्थको हृदयङ्गम करनेमें उपयुक्त होता है।

इस प्रकार द्वादशाङ्ग श्रुतमें विस्तारसे कहे गये और घेरे द्वारा समास ( संक्षेप ) से कहे गये इस ग्रन्थमें जो उपयुक्त होकर उसके अर्थका गुणन ( चिन्तन और मनन ) करता है, उसकी बुद्धि विपुल ( विशाल ) हो जाती है ।

### उपसंहार

इस प्रकार जीवसमासकी रचना देखते हुए उसकी महत्ता हृदयपर स्वतः ही अंकित हो जाती है और इस बातमें कोई सन्देह नहीं रहता कि उसके निर्माता पूर्ववेत्ता थे, या नहीं ? क्योंकि उन्होंने उपर्युक्त उपसंहार गाथामें स्वयं ही ' बहुभंगदिट्टियाए ' पद देकर अपने पूर्ववेत्ता होनेका संकेत कर दिया है ।

समग्रजीवसमासका सिंहावलोकन करनेपर पाठकगण दो बातोंके निष्कर्षपर पहुँचेंगे एक तो यह कि वह विषयवर्णनकी सूक्ष्मता और महत्ताकी दृष्टिसे बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और दूसरी यह कि षट्खण्डागमके जीवदृाण-प्ररूपणाओंका वह आधार रहा है ।

यद्यपि जीवसमासकी एक बात अवश्य खटकने जैसी है कि उसमें १६ स्वर्गोंके स्थानपर १२ स्वर्गोंके ही नाम हैं और नव अनुदिशोंका भी नाम-निर्देश नहीं है, तथापि जैसे तत्त्वार्थसूत्रके ' दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः ' इत्यादि सूत्रमें १६ के स्थानपर १२ कल्पोंका निर्देश होनेपर भी इन्द्रोंकी विवक्षा करके और ' नवसु प्रैवेयकेषु विजयादिषु ' इत्यादि सूत्रमें अनुदिशोंके नामका निर्देश नहीं होनेपर भी उसकी ' नवसु ' पदसे सूचना मान करके समाधान कर लिया गया है उसी प्रकारसे यहां भी समाधान किया जा सकता है ।

षट्खण्डागमके पृ. ५७२ से लेकर ५७७ तक वेदनाखण्डके वेदनाक्षेत्रविधानके अन्तर्गत अवगाहना-महादण्डकके सू. ३० से लेकर ९९ वें सूत्र तक जो सब जीवोंकी अवगाहनाका अल्पबहुत्व बतलाया गया है, उसके सूत्रात्मक बीज यद्यपि जीवसमासकी क्षेत्रप्ररूपणामें निहित है, तथापि जैसा सीधा सम्बन्ध, गो. जीवकाण्डमें आई हुई ' सुहुमणिवाते आमू ' इत्यादि ( गा. ९७ से लेकर १०१ तककी ) गाथाओंके साथ बैठता है, वैसा अन्य नहीं मिलता । इन गाथाओंकी रचना-शैली ठीक उसी प्रकारकी है, जैसी कि वेदनाखण्डमें आई हुई चौसठ पदिकवाले जघन्य और उत्कृष्ट अल्पबहुत्वकी गाथाओंकी है । यतः गो. जीवकाण्डमें पूर्वाचार्य-परम्परासे आनेवाली

अनेकों गाथाएँ संकलित पाई जाती हैं, अतः बहुत सम्भव तो यही है कि ये गाथाएँ भी वहाँ संगृहीत ही हों। और यदि वे नेमिचन्द्राचार्य-रचित हैं, तो कहना होगा कि उन्होंने सचमुच पूर्व गाथा-सूत्रकारोंका अनुकरण किया है।

विदुषीरत्न पंडिता सुमतिबाईजीने यह आर्ष ग्रंथराजका संपादन बहुत परिश्रमपूर्वक किया है और बहुतही सुंदर हुआ है। पूरा षट्खण्डागम एक जिल्दमें ( एक पुस्तकमें ) होनेसे स्वाध्याय करनेवालोंको और अभ्यास करनेवालोंको सुगम होगया है। जिनवाणीका यह आद्य ग्रन्थ होनेसे अत्यंत महत्त्वशाली है। मुझे जो प्रस्तावना लिखनेका सुअवसर दिया इसलिये मैं बाईजीका आभारी हूँ।

चैत्रशुद्ध प्रतिपदा  
१४ - ३ - १९६४  
सोलापूर.

आ.

पं. हिरालाल शास्त्री  
साठूमळ

